(कहानी संग्रह)

लेखक

श्री ज़हूर बख़्श जी 'हिंदी कोविद'

प्रकाशक

नालन्दा-प्रकाशन, बम्बई, १

नालन्दा पब्लिकेशन्स कम्पनी,

रेस कोर्स रोड, बड़ोदा

आमुख

देवनागरी लिपि सौन्दर्य और ध्वनि-ग्राहिका-शक्ति के विचार से अप्रतिम है। हिन्दी-भाषा इसी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। फलतः प्रत्येक मनुष्य उसे सरलता से पढ़ने-लिखने और बोलने लगता है। यही कारण है, जो आज निष्प्रयास ही हिन्दुस्तान जैसे विशाल देश की राष्ट्र-भाषा बन गई है।

हिन्दी-भाषा में माधुर्य के सिवाय भाव-प्रदर्शन की भी अद्भुत क्षमता है। अतएव अरबी, फ़ारसी आदि भाषाओं के प्रेमी मुसलमान भी उसके इन गुणों पर रीझ गए तथा शताब्दियों निर्विकार भाव से उसकी पूजा करते रहे। परन्तु अब राजनैतिक उथल-पुथल ने परिस्थिति यहाँ तक बदल दी है कि सम्भवतः मैं हिन्दुस्तान का अन्तिम हिन्दी-उपासक मुसलमान हूँ। जो हो, मेरे माता पिता ने तो हिन्दी-द्वारा ही मुझे मनुष्य बनाने का प्रयत्न किया। फलतः हिन्दी से पृथक् मेरा कोई अस्तित्व नहीं है और मैं विगत तीन युगों से हिन्दी की आराधना में लीन हूँ।

यद्यपि मेरी रुचि साहित्य-मय है, तथापि मैंने एक बड़ी संख्या में कहानियाँ भी लिखी हैं। उन्हीं में से कुछ कहानियों का यह संग्रह '**शबनम**' के नाम से प्रकाशित हो रहा है। इसकी अधिकांश कहानियाँ मेरे ही जीवन से सम्बन्धित हैं, अतएव उनमें अनुभूति की प्रधानता है। परन्तु शेष कहानियों की शैली भी अनुभूति-रहित नहीं है। मैं कला को '**सत्यं, शिवं, सुन्दरं**' की पूजा का साधन मानता हूँ, और मैंने इसी पृष्ठ-भूमि पर यथार्थ और आदर्श के मिश्रण से इन कहानियों की रचना की है। परन्तु इनमें मनोवैज्ञानिक तथ्य भी हैं, जो भाव-पूर्ण भाषा के योग से मानो मुखरित हो उठे हैं।

अस्तु। '**शबनम**' बम्बई के '**नालन्दा प्रकाशन**' द्वारा प्रकाशित हुई है। इस संस्था के सञ्चालक **श्रद्धेय श्री द्वारका प्रसाद जी 'सेवक'** उन तपस्वियों में से हैं, जिन्होंने अपने सर्वस्व की आहुति देकर हिन्दी को सम्पन्न किया है। आपने '**शबनम**' को जो भव्य रूप प्रदान किया है, उसके लिये मैं हृदय से आपका आभारी हूँ।

आदर्णीय **श्री गुरुदयाल जी मलिक** महोदय ने "**दो शब्द**" लिख देने का जो श्रम उठाया है उसके लिये भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

सागर, (म. प्र.)
२३ जून, १९४९ ई०

ज़हूर बख्श

दो शब्द

मैं न तो कहानियों का लेखक हूं और न ही आलोचक; हां, उनका पाठक ज़रूर हूं। और अगर मैं भाई साहब ज़हूर बख्श की कहानियों के इस संग्रह के लिये "**दो शब्द**" लिख रहा हूं तो इस का सिर्फ़ एक ही कारण है—मुझे उनकी और उनके एक प्रिय मित्र की मोहब्बत ने मजबूर किया है।

मैंने "**शबनम**" की चंद कहानियां पढ़ी हैं और वह मुझे बहुत अच्छी लगी हैं। क्या इस से और कुछ ज्यादा उन के बारे में कहने की ज़रुरत है? क्या कहानी का उस के पाठक को अच्छा लगना, कहानी की क़दरशनासी करना नहीं है?

जितनी हकानियां "**शबनम**" की मैंने पढ़ी हैं उन में एक ख़ास बात जो मुझे देखने में आई है वह यह है कि भाई साहब ज़हूर बख्श दुःखी दिल का चित्रण बड़ी ही खूबी से कर सकते हैं। क्या शबनम का मातृत्व—मुग्ध बालक—व्याकुल दिल हो, या नसीबन की कमनसीबी हो, क्या उषा की पिया—मिलन के लिये प्यास हो या भोले भाले अहमद का उस के प्यारे बकरे पीरा की दर्द भरी पुकार, "मेरा पीरा—मेरा पीरा" हो, हर एक में दैविक कल्पना की कीमिया से सौन्दर्य में बदली हुई सहृदयता और सहानुभूति पाई जाती है, जिस से बार बार ऐसा प्रतीत होता है कि भाई ज़हूर बख्श जी किसी दुःखी को देखकर, अमेरिका के एक कवि की न्याईं, कह रहे हैं, "मैं किसी दुःखी से केवल इतना ही नहीं पूंछता हूँ कि तुम कैसे हो, उसे देखकर मैं वैसा ही दुःखी खुद—बन जाता हूँ।"

ज़हूर बख्श जी की कहानियों की भाषा हिन्दोस्तानी है और लिपि देवनागरी, इस से मेरी खुशी में और भी वृद्ध हुई है।

आशा है कि "**शबनम**" के पढ़ने से पाठकों का दिल दुःखियों के लिये प्रेम से दुबारा फिर ताज़ा हो जायेगा जैसे कि शबनम के उस पर पड़ने से हरएक फूल ताज़ा हो जाता है। सच कहूँ तो "**शबनम**" दुःखी दिल से निकला हूआ एक मोती है!

भाई साहब ज़हूर बख्श को मैं उनकी सफलता के लिये बधाई देता हूँ।

उटक मण्ड **गुरुदयाल मलिक**
४—७—४९

पढ़िये—

सम्पूर्ण पृष्ठ सं. २००

समर्पण

स्नेहमयी जीवन-सहचरी !

'**शबनम**' में तुम्हारा ही चरित्र झाँक रहा है—तुम्हारा ही आदर्श बोल रहा है। भला तुम्हारी वस्तु और किसे अर्पण करूँ? लो, स्नेह की भेंट-स्वरूप अपना यह प्रतिरूप स्वीकार करो।

स्नेहाधीन—

ज़हूर बख्श

शबनम

उस दिन इतवार था। मैं क़रीब पाँच बजे अपने दोस्त श्रीवास्तवजी के यहाँ से लौटा। घर पर आया, तो देखा कि शबनम मेरे लिये नाश्ता तैयार कर रही है। उसका यह स्वभाव है कि मुझे देखते ही ख़ुशी मानो उसके भीतर चहक उठती है, हृदय की तमाम मुहब्बत उसकी आँखों में सिमट आती है, और तब वह मुसकिराकर मुझ से पूछती है—'आगए?'

शबनम ने हमेशा की आदत के मुताबिक़ आज भी मुझ से पूछा—'आगए?' मगर आज उसके होंठों पर मुसकिराहट नहीं थी और गले में ख़ुशी का वह उफ़ान भी नहीं था। मैंने गौर से उसके चेहरे पर एक नज़र डाली। सदमें की घटाएँ घिरी हुई, आँखों में ख़ुशीका निशान भी नहीं, पलक सुर्ख़ और सूजे हुए; फ़ौरन् समझ गया कि शबनम थोड़ी देर पहले रोती रही है। और इसके रोने के दो ही कारण हो सकते हैं—या तो इसे

गफ़ूरने, और या फिर बच्चों की याद ने सताया है। शबनम को दुखी देख मेरे दिलपर एक गहरी चोट लगती है। मेरे जीवन में हमेशा यह अरमान रहा है कि जब शबनम को देखूँ, तब उसका हँसता हुआ मुखड़ा ही देखूँ और इस अरमान की जो भी क़ीमत देनी पडे, खुशीसे दे डालूँ। मगर मैं इस अरमान की क़ीमत अदा कर सकने लायक़ कभी न हो सका, और शायद हो भी न सकूँगा।

शबनम की वह हालत देखकर बड़ा रहम आया। इच्छा हुई कि इसे खींचकर कलेजे से लगा लूँ और पूछूँ—'मेरी शबनम—मेरी ज़ुलेखा, यह क्या हाल है?' मगर उस वक्त मैं चुप हो रहा और शबनम भी मशीन के समान अपने काम में लगी रही।

जब मैं हाथ-मुँह धोकर कुर्सी पर बैठा, तब शबनम ने नाश्ते की तश्तरी लाकर मेज़ पर रख दी। मगर उस वक्त मेरा जी न हलुवे पर था, न पानी पर। अगर तबीयत में कोई बात थी, तो यही कि शबनम के दिल का दर्द सुनूं और उसे तसल्ली-आमेज़ दो बातें सुनाऊँ। मैंने उससे कहा—'क्यों, तुम नहीं खाओगी? अपने लिये भी एक तश्तरी ले आओ। आज हम लोग एक साथ खायँगे। न हो, इसी तश्तरी में सही; बस, बैठ जाओ, तुम्हें मेरी क़सम।'

जब मैं शबनम को ग़मगीन देखता हूँ, तब अक्सर इसी उपाय से काम लेता हूँ, और फिर उसकी मुरझाई हुई तबीयत हरी-भरी होने में ज़्यादह देर नहीं लगती। मगर शबनम आज बहुत उदास थी—इतनी गहरी उदासी में आजसे पहले वह कभी न डूबी थी। 'तुम खाओ',—उसने मुझपर एक सूनी नज़र डाली और कहा—'अभी मेरी तबीयत नहीं चाहती।'

'क्यों?'— मैं उसकी नज़र से नज़र मिलाकर बोला—'तुम्हारी तबीयत क्यों नहीं चाहती? तुम्हें खाना पड़ेगा!'

'तुम्हें तो बस ज़िद करने की आदत पड़ गई है। कहकर शबनम

ने मुँह फेरा और जाने के लिये पैर उठाया। मैंने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और कहा–' अच्छी बात है। तुम न खाओगी, तो तुम्हारी क़सम, मैं भी न खाऊँगा। मगर जाती कहाँ हो? बैठो, दो–चार मीठी बातें सुनाओ। पेट की न सही, हृदय की ही भूख बुझे!' यह कहकर मैंने मुसकिरा दिया।

शबनम ने मेरी तरफ़ देखा। उसके होंठों पर वही स्वाभाविक मुसकान खिल उठी और इसके बाद ही उसकी आँखें डबडबा आईं और उनसे टपटप आँसू गिरने लिगे। ' मेरी शबनम ',—मैंने अपना बायाँ हाथ उसके दाहिने कन्धे पर रक्खा और दाहिने हाथ से रुमाल द्वारा उसकी आँखें पोंछते हुए कहा—' बात क्या है? आख़िर इन आँसुओं का मतलब?'

शबनम के आँसू और भी ज़ोरों से बहने लगे। वह सिसकियाँ भरने लगी।

'पगली!'–मैंने उसे और भी क़रीब खींच लिया, उस की पींठ पर हाथ फेरा और कहा–' मेरे रहते इतना अफ़सोस! तुम्हारा कलेजा इतना सस्ता नहीं है कि आँखों के रास्ते पानी की शकल में बहा दिया जाय। तुम्हारे आँसू मेरे हृदय पर गोलियों का काम करते हैं। मेरी शबनम! मेरी दिलरुबा! बोलो–बोलो! इस तरह क्यों रो रही हो? मुझसे तुम्हारे आँसू नहीं देखे जाते!'

शबनम अपने दामन से आँसू की कोरें पोंछते हुए, रुँधे गले से बोली–' क़िस्मत रुलाती है, इसलिये रोती हूँ। मैंने ग़फ़ूर के साथ क्या नहीं किया; मगर दुनिया का शायद यही दस्तूर है कि वह नेकी का बदला बदी से चुकाती है। ख़ैर, अब तो मेरा नाम बदनाम हो ही गया!' और इसके बाद ही वह एक ठण्ढी साँस खींचकर कुर्सी पर बैठ गई।

× × ×

गफ़ूर मेरा सगा छोटा भाई है। जब वह केवल आठ वर्ष का था, तभी मा-बाप का इन्तक़ाल हो गया था। उस समय तक शबनम भी तीन बच्चों की मा हो चुकी थी। मगर बद-क़िस्मती से उसकी गोद ख़ाली थी और वह अपने कलेजे के टुकड़ों की याद में हमेशा तड़पा करती थी। उसके हृदय में 'माता की ममता' नाम की जो दौलत छिपी पड़ी थी, उसका हक़दार कोई न था। ऐसे ही वक़्त में जब शबनम ने गफ़ूर को मा–बाप के वियोगमें बिलखता हुआ पाया, तब उस पर अपने दिल की तमाम दौलत निछावर कर दी। उसने आठ वर्ष के गफ़ूर को इस तरह छाती से लगा लिया, जैसे वह उसी का जाया हुआ अबोध बच्चा हो। अब शबनम गफ़ूर की मा बन गई और गफ़ूर उसकी आँखों का तारा हो गया।

इसके बाद और भी कई बार शबनम की गोद भरी और ख़ाली हुई। मगर गफ़ूर का मुँह देखते देखते उसने ये करारी चोटें बरदाश्त कर लीं। इसके साथ ही दिनोंदिन उसका यह ख़याल ज़ोर पकड़ता गया, कि ख़ुदाने गफ़ूर की शकल में ही उसे एकलौता लाल दे रक्खा है। इसका नतीजा यह हुआ, कि गफ़ूरने शबनम की तमाम मुहब्बत छीन ली। अब वह मेरे बजाय गफ़ूर की कहीं ज़्यादह फ़िक्र करती। अगर गफ़ूर का सर भी दुखने लगता, तो शबनम के प्राणों में उथल-पुथल मच जाती, और मेरी लापरवाही पर वह जल उठती। मुझसे कहती–'मेरी ख़ुशी तुम्हें शायद अच्छी मालूम नहीं होती। देखो, मैं छड़की बैठी हूँ; गफ़ूर बेचैन हो रहा है और तुम्हें जैसे कोई फ़िक्र ही नहीं है। जाओ, जल्दी से किसी डॉक्टर या हकीम को बुला लाओ।'

शबनम के इस प्यार ने गफ़ूर को अव्वल नम्बर का ज़िद्दी, ढीठ और आवारा बना दिया। वह पढ़ने–लिखने से जी चुराता, दिन-भर पैसे माँगता, और लुच्चे–बदमाश लड़कों के साथ न जानें कहाँ कहाँ तक धावे मारता। अगर कभी मैं उसपर नाराज़ होता, या उसे सज़ा देना चाहता, तो

शबनम उसे बचाने के लिये फ़ौरन् बीचमें आ जाती और मुझे फटकारने लगती—'वाह ? बच्चे को कोई इस तरह भी डाँटता-डपटता है ! मुझे तुम्हारा यह काम अच्छा नहीं लगता । अभी बेचारे में समझ ही क्या है । जब अक्ल आयगी, तब ख़ुद ही सब कुछ सीख लेगा ।'

मैं नाउम्मीद होकर कहता—'शबनम, ख़ुदाके वास्ते ज़रा सोचो, तुम्हारी मुहब्बत इसे बरबाद कर रही है । तुम इस पर केवल मुहब्बत करना जानती हो—इसके साथ तुम्हारा और भी कोई फ़र्ज़ है, यह तुम्हें मालूम नहीं । जब यह पढ़ेगा—लिखेगा नहीं, तब इसमें अक्ल कहाँ से आयगी ? यों बदमाश लड़कों का साथ करने से इसमें दुनिया-भरकी बुराइयाँ ज़रूर आ जायँगी ।'

जब शबनम को इन बातों का जवाब न सूझता, तब वह फ़ौरन इस उसूल की ओट लेती—'कुछ जानते भी हो, हम इसे हज़ार आराम से रक्खें, अगर यह ज़रा भी दुखी होगा, तो दुनिया यही कहेगी कि बेचारा बिना मा-बापका बच्चा है; भाई—भावज इसकी फ़िक्र क्यों करने चले ? उस वक़्त मैं तो किसी को मुँह दिखाने लायक़ भी न रहूँगी ।'

मैं उसके इस उसूल के सामने मजबूर होकर कह देता—'अच्छा है शबनम, तुम्हें जो दिखे, वही करो । मुझे क्या, तुम्हीं इसकी शरारतों के फल भुगतोगी ।

'जी हाँ !'—शबनम बला टली हुई समझ मुसकिराकर जवाब देती—'मैं भुगत लूँगी ! आपको इससे मतलब ?'

'ज्यों ज्यों ग़फ़ूर की उम्र बढ़ती गई, त्यों त्यों बुराइयाँ उसमें घर करती गईं । अब वह शबनम से हमेशा लड़ाई झगड़े ठाने रहता । उसके जेब—ख़र्च की ज़रूरतें दिनों—दिन बढ़ती जाती थीं । कभी वह शबनम से मिन्नतें करता, कभी लड़ता—झगड़ता, कभी रुठकर बीमार बन जाता, और कभी दिन-दिन भर घर से ग़ायब रहता । एक दिन मैंने शबनम से कहा—

'यही तुम्हारे लाड़ले के हुनर हैं। कहती थीं, बड़े होने पर इसमें आप ही अक्ल आ जायगी। कुरबान जाऊँ, इस समझदारी पर!'

शबनम अभिमान-पूर्वक बोली- ' जब वह मेरा बच्चा है, तो रुठने किसके पाय जायगा? मुझसे ही नहीं लड़ेगा झगड़ेगा, तो क्या किसी ग़ैर से लड़ेगा झगड़ेगा!' शबनम को ग़फ़ूरकी बुराइयों में इतना सुख मिलता था।

होते हवाते ग़फ़ूरने मेट्रिक पास कर लिया,। मुझे ताज्जुब था कि यह पास कैसे हो गया। मगर अब कोई मामूली नौकरी मिलजाने के लिये, उसके रास्ते में किसी प्रकार की दिक्कत न थी। मैंने ज़रा हाथ-पैर चलाए और ग़फ़ूर को म्युनिसिपैलिटी के मिडिल स्कूल में तीस रुपए की मास्टरी मिल गई। जिस दिन उसने दस-दस रुपएवाले तीन नोट लाकर शबनम को दिए, उस दिन तो मानों शबनम ने हाथों हाथ जन्नत पाली। वह मेरे सामने आई और अभिमान से तनकर बोली-' मैं कहती थी न कि जब ग़फ़ूर बड़ा हो जायगा, तब उसमें समझ आजायगी। यही दुनिया का क़ायदा है। ज्यों ज्यों आदमी की उमर बढ़ती है, त्यों त्यों उसमें अक्ल आती है। यह देखो, उसकी कमाई के रुपए। अब वह बड़ा हो गया है, अपने आप कमाने खाने लगा है। मेरा ख़याल है, शायद बीसवें सालमें जा रहा है। अब उसकी शादी हो जानी चाहिए।'

उस वक्त शबनम खुशीमें ग़र्क़ हो रही थी। मैंने सोचा, इसे खुशी का मज़ा लूटने का पूरा हक़ है, और मेरा चुप रहना ही वाजिब है। मगर उस दिन से शबनम पर ग़फ़ूर की शादी करने की धुन सवार हो गई। जब मौक़ा मिलता, वह यही चर्चा छेड़ देती-'अगर ग़फ़ूर की शादी हो जाती, घर में उसकी बहू आजाती, तो मैं घर गिरिस्ती के बहुतसे झंझटों से बच जाती।'

मैंने उसे कई मर्तबा समझाया-' शबनम, ग़फ़ूर मास्टर ज़रूर हो गया है, मगर उसका चाल-चलन देखते हुए मेरी हिम्मत नहीं होती कि मैं पराई बेटी अपने घरमें लाऊँ। अगर कहीं उसे तकलीफ़ हुई, तो हमारी

अच्छी भली जान मुसीबत में फँस जायगी। तुम घर–गृहस्थी के बोझ से बचना चाहती हो, पर मुझे तो उम्मीद नहीं कि तुम्हारा यह अरमान पूरा होगा। शादी होने के बाद ग़फ़ूर शायद छः महीने भी हमारा साथ न देगा।'

मगर शबनम के पास इन बातों का एक ही जवाब था 'नहीं, हमारा ग़फ़ूर ऐसा नहीं है। वह हमसे अलग नहीं हो सकता। रही चाल चलन की बात, सो शादी के बाद उसे खुद ही शर्म मालूम होगी और वह तमाम गधा पचीसी छोड़ देगा। फिर वह हमारे साथ रहे, या न रहे; शादी तो हमें उसकी करनी ही पड़ेगी। नहीं तो दुनिया नाम धरेगी; कहेगी कि घरमें जवान भाई कुँआरा बैठा है।'

इसमें शक नहीं कि दुनिया रायज़नी करना जानती है, और खूब जानती है। किसी का मतलब कितना ही ऊँचा हो, दुनिया उसपर रायज़नी ज़रूर करेगी और उसमें नाम धरने के कितने ही सामान खोज निकालेगी। ज्योंही उसकी इस नीयत का पता चलता है; त्यों हो बड़े–बड़े दाना और अक्लमन्द मनुष्य भी सहम उठते हैं; उनके ख़याल और हौसले ढीले पड़ जाते; और वह ख्वाहमख्वाह ख़नरेके ज़हर का प्याला पी लेते हैं। एक दिन शबनम ने कहा–' आज कुछ पड़ौसिनें बैठने आई थीं। बातों–ही बातों में बोलीं–' जवान देवर की शादी नहीं करतीं यह तो बहुत बुरी बात है।' मैं तो मारे शर्म के गड़कर रह गई, और तुम हो कि कुछ सुनते भी नहीं।'

यह कहकर शबनम अनमनी हो गई।

मैंने कुछ सोचकर कहा–' शादी करना कौन बड़ी बात है, मगर खुदाके बच्चे तो होना चाहिए।'

'खुदाके बच्चों की फ़िक्र मत करो।'–शबनम उमंग से बोली– 'तीन सौ मैं दे दूंगी। कुछ तुम कर लेना।'

मैंने ताज्जुब से शबनम की ओर देखा, उसके रोम-रोम से खुशी फूट

रही थी। मैं मन-ही-मन सोचने लगा—शबनम ने भी क्या अजीब तबीयत पाई है। ग़फ़ूर की ममता में यह दीवानी हो रही है। इसने कितनी मुश्किल से, न जाने कितने दिनों में ये तीन सौ रुपए जोड़े होंगे; अब यह इन्हें ग़फ़ूर पर निछावर करने के लिये इतनी उतावली मचाए है। ग़फ़ूर कितना ख़ुश-क़िस्मत है, जिसने ऐसी फ़रिश्ता-सिफ़त भावज पाई है!

'क्यों, क्या सोच रहे हो?'—मुझे चुप देखकर शबनम ने कहा—'यही न कि तीन सौ रुपयों में क्या होगा या बाक़ी रुपए कहाँ से आवेंगे? मगर कोई परवाह नहीं मेरे पास काफ़ी ज़ेवरात भी हैं। आख़िर ये ऐसे ही वक़्त पर तो काम आते हैं।'

क़िस्सा-कोताह; ग़फ़ूर की शादी बड़ी धूम से हुई। शबनम ने दिल खोलकर ख़र्च किया और झूमझूमकर ख़ुशियां मनाईं। जब बहू घर में आई, तब उसे पाकर शबनम निहाल हो गई। उसने बहू पर इतना प्यार किया कि उसे अपने तमाम ज़ेवर दे डाले। उस दिन से शबनम में चौबीसों घण्टे ख़ुशी की ख़ुमारी भरी रहती। वह चलती, तो उसके पैर ज़मीन पर न पड़ते, बोलती, तो ऐसा मालूम पड़ता, जैसे कोई पहाड़ी नाला मस्ती से कल-कल की सुरीली तान छेड़ रहा हो। जब देखो, तब कोई न कोई मन्सूबा बाँधती रहती, और फिर एकाएक पगली के समान बोल उठती 'कल यह करूँगी—परसों वह करूँगी।'

× × ×

आज शबनम की बहू को घर में आए केवल बारहवाँ दिन था, और इतनी जल्दी शबनम की वह पागलपन से भरी हुई ख़ुशी सदमें की शकल में तब्दील हो गई। जिन अरमानों को वह एक मुद्दत से पालती आ रही थी, उनका इतनी बुरी तरह ख़ून हो गया। सच तो यह है कि इस दुनिया में शबनम ही क्या, किसीके सभी अरमान कभी पूरे नहीं होते; अगर होते, तो दुनिया का नाम दुनिया न होकर कुछ और ही होता। जब

शबनम के मुँहसे यह फ़िक़रा निकला कि 'अब तो मेरा नाम बदनाम हो ही गया,' तब तो मैं एकबारगी चौंक उठा। मैंने संजीदगी से कहा– 'शबनम, तुम्हारा नाम बदनाम क्यों हो गया–कैसे हो गया? तुमने ग़फ़ूर के साथ जो कुछ किया है, उससे ज्यादह तो सगी मा भी नहीं कर सकती। फिर किसके मुँह में दो दाँत हैं, जो तुम्हें बदनाम करने की हिम्मत करे?'

'जाने दो उस बात को'–शबनम कुछ संभलकर बोली–। तुम नाश्ता करो। मैं अपने लिये भी कुछ ले आऊँ।'

शबनम खड़ी हो गई।

'नहीं शबनम'–मैंने उसे फिर कुर्सी पर बिठाते हुए कहा–' तुम्हारे इस सदमे का मतलब मामूली नहीं हैं। ग़फ़ूरने तुम्हें कब कब नहीं सताया। मगर मैंने तुम्हें कभी इस क़दर ग़मगीन नहीं देखा। आज तुम्हारे कोमल हृदय पर ज़रूर बहुत सख्त़ चोट की गई है। तुम्हारी यह हालत देखकर मेरा जी उमड़ रहा है। अगर तुम मुझे सचमुच प्यार करती हो तो कुल हाल ठीक-ठीक बतला दो। तुम्हारी आँखों से आँसू बहते रहें और मैं खाना खाने लगूँ! नहीं शबनम ऐसी हालत में मेरे हलक़ के नीचे एक निवाला भी न उतरेगा।'

'मेरी ज़िन्दगी की किश्ती के नाखुदा–मेरे प्यारे!'–शबनम मेरे कन्धे पर अपना सर लटकाकर आँखों से आँसुओं की धारा बहाती हुई बोली–'सचमुच आज मेरे हृदय में बड़ा दर्द है। मेरे कई बच्चे उठ गए पर मुझे कभी इतना सदमा–ऐसा सदमा नहीं हुआ। मालूम होता है मानों कलेजा मुँह के रास्ते बाहर निकलने की कोशिश कर रहा हो! उफ़! मैंने कितनी उमंगों के साथ ग़फ़ूर की शादी की थी! मगर वह आज कहता था कि मैं अनवरी के सर से बालों की लट काट रही थी।'

'तुम अनवरी के सर से बालों की लट काट रही थीं–क्या मतलब

इसका ? तुम ऐसा क्यों करोगी और इससे तुम्हें फ़ायदा ही क्या होगा ? यह तो महज़ पागलपन की बात है। बस, इतनी-सी बात पर ऐसा मलाल !'-मैंने मामूली तौर से कहा।

'आह ! तुम नहीं जानते इसका मतलब !'—शबनम मेरी आँखों में आँखें डालकर बोली—'अगर जान लोगे, तो जल उठोगे; तुम्हें भी बहुत सदमा होगा, नहीं जानते। यही अच्छा है।'—यह कहते-कहते शबनम ने सर झुका लिया और आँखें पोंछ लीं।'

'नहीं शबनम !'—मैंने आहिस्ता से उसकी ठोड़ी ऊपर उठाते हुए कहा—अगर ऐसा है। तो तुम मुझे इसका मतलब ज़रूर बतलाओ। मुझे जलना और सदमा बरदाश्त करना मजूंर है !'

'गँवार औरतों का ख़याल है,'—शबनम की आँखों से फिर बड़े-बड़े मोती बरसने लगे। वह बिलखने लगी और क्षण-भर बाद रूँधे गले से अटक-अटक कर बोली—'जिस औरत के बच्चे मर-मर जाते हों, वह अगर किसी नई ब्याही हुई औरत के सर से बालों की एक लट काट ले, तो उसकी औलाद चलने लगती है, और जिस औरत के सर से बाल काट लिए जाते हैं, उसके बच्चे नहीं जीते। ग़फ़ूर का कहना है कि मैंने अपनी ख्वाहिश पूरी करने के लिये उसकी बीबी के साथ यह टोटका किया है। या खुदा !'—उसने आसमान की तरफ़ सर उठाते हुए कहा—'यह सच है कि मैं बदनसीब हूँ; तेरे यहाँ से अपनी क़िस्मत में रोना-ही-राना लिखाकर आई हूँ, मगर तू मेरे दिलका...'

'बस शबनम !'—मैं मारे ग़ुस्से के उबल उठा और उसके मुँह पर हाथ रखते हुए गरज कर बोला-'खुदा के वास्ते अपनी ज़बान बन्द कर लो, वरना इस घर पर क़यामत बरपा हो जायगी। यह उसकी मक्कारी है, तुम नहीं जानतीं, उसने हमसे अलहिदा होने के लिये ही यह हिकमत सोची है। कहाँ है वह पाजी एहसान-फ़रामोश; मैं आज उसे कड़ी-से-कड़ी

सज़ा दूँगा।'

इसके बाद ही लपक कर मैंने अपना बेत उठा लिया।

'नहीं मेरे मालिक!'--शबनम मुझ से लिपट गई, उसकी आँखों में घबराहट थी, और गले की आवाज़ ऐसी, मानों मुझसे वह रहम की भीख माँग रही हो--'जाने दो उस नालायक़ को! अब मुझे ज़रा भी मलाल नहीं है। तुम्हारी हमदर्दी मेरे तमाम रंज-मलाल काफ़ूर कर देती है। तुम्हारे क़दम चूमती हूँ, इतना गुस्सा मत करो। बैठ जाओ। मैं भी तुम्हारे साथ नाश्ता करूँगी।' उसने मुझे ज़बर्दस्ती बिठा दिया और इसके बाद ही वह झपट कर नाश्ता ले आई।

शबनम के इन लफ्ज़ोंने मेरे गुस्से की आग पर ठण्डे पानी की बारिश कर दी। सचमुच शबनम वह फूल है, जिसकी खुशबू पर मेरा दिल दीवाना रहता और उसके चारों तरफ़ मँडलाया करता है। शबनम मेरी वह खुशी है, जिसे पाते ही मैं अपने तमाम ग़म भूल जाता हूँ। दुनिया की तमाम फ़िक्रों से बेखबर हो जाता हूँ। और मेरे रोम-रोम में एक नया जोश भर जाता है। शबनम वह रोशनी है, जो मुझे कर्तव्य-पथ बतलाया करती है। इसका चरित्र शीशे के समान साफ़ और हृदय आसमान से भी महान् है। इसकी नीयत पर इतना नीच इलज़ाम! सचमुच बड़े अफ़सोस की बात है। अगर यह इस क़दर फूट-फूट कर रोई है, तो स्वाभाविक ही है।

अचानक मेरे दिल में एक ख़याल आया। ग़फ़ूर को यह कमीनापन सूझा कैसे? अभी इसकी उमर ही क्या है! फिर इसे ऐसे टोटके-टोने का इल्म कहाँ से हो गया? मैं क़रीब दो बजे श्रीवास्तवजी के यहाँ गया था। उस वक्त अनवरी सोई हुई थी। शबनम उसके सिराहाने बैठी-बैठी उसकी ओढ़नी पर क़सीदे का काम करने में लगी थी और बुढ़िया नसीबन उसे लोक-परलोक की नसीहत-आमेज़ बातें सुना रही थी। कहीं इस झगड़े की

जड़ वही तो नहीं है ? नसीबन मेरी सगी चाची है। उसकी बोली से फूल झड़ते हैं, ज़बान से वह सभी की भलाई चाहती और हमेशा नसीहत का दफ्तर खोले रहती है। फिर भी नाते-रिश्ते के लोगों का ख़याल है कि नसीबन चाहे, तो मियाँ-बीबी के जुडे़ हुए दिल फाड़ दे और चाहे तो फटे हुए दिल एक कर दे। मैंने शबनम के मुखड़े पर एक मुहब्बत-भरी निगाह डाली और कहा-'कहीं यह नसीबन चाचीका ही चमत्कार न हो!'

'तोबा करो!'—शबनम मुझे एक चुभती-सी नज़र देखती हुई बोली- 'वह हमारी चाची हैं। उनके लिये तो जैसी मैं, वैसी अनवरी। उनके मुँह से मैंने तो कभी किसी की बुराई नहीं सुनी, फिर वह हमारा बुरा क्यों चेतने लगीं ? जबतक बैठी रहीं, बराबर दीन-दुनिया की अच्छी से अच्छी चर्चा करती रहीं। और उनके जाते वक्त़ तो अनवरी सो रही थी। जबतक कोई सुबूत न मिले, किसी की नीयत पर शक करना गुनाह है।'

'जो हो,'-मैंने चम्मच उठाते हुए कहा-'अब इस घरमें ग़फ़ूर का कोई काम नहीं। उसे आज ही अलहिदा कर देना चाहिए।'

शबनम एकाएक गम्भीर हो गई। सर लटकाकर कुछ सोचने लगी।

'क्यों,'-मैंने उसे चुप देखकर कहा-'क्या सोच रही हो ?'

'सोच रही हूँ!'-वह उसी तरह सर झुकाए हुए बोली-'ग़फ़ूर बेवकूफ़ है। मुझे....'

'मगर तुम्हें उसकी बेवकूफ़ी से मतलब ?' मैंने चिढ़कर कहा।'

'अनवरी पर रहम आता है।' शबनम ने सर उठाया। उसकी आँखें चमक रही थीं, उनमें पानी भरा हुआ था। वह बड़ी ही संजीदगी से कहने लगी!-'आह! बदनसीब लड़की। ग़फ़ूर उसपर प्यार नहीं कर सकेगा। मैं उसे बारह वर्ष से बच्चे समान पालती आ रही हूँ; जब मैं ही उसपर कोई असर न डाल सकी, तो वह नादान लड़की क्या कर सकेगी?ग़फ़ूर में स्वार्थ

कूट-कूट कर भरा हुआ है, और....'

शबनम ने अपने दर्द की दवा आप ही ढूँढ़ ली, यह जानकर मुझे कुछ सन्तोष हुआ और मैंने उसकी बात काटते हुए कहा-'स्वार्थ वह अंधेरा है, जिसमें पशुता, लोभ, वासना, तृष्णा, घृणा, क्रोध आदि बीमारियाँ पैदा होती और पनपती हैं। मगर प्रेम वह प्रकाश है, जिसे पाते ही त्याग, संयम, उदारता, दया आदि के फूल खिल उठते हैं।'

'या खुदा!' शबनम उसी लहजे में बोली-'स्वार्थी ग़फ़ूर बेचारी अनवरी पर कैसे प्रेम करेगा? जिस दिन उसकी जवानी ढल जायगी, उसके चेहरे पर लुनाई न रहेगी, उस दिन ग़फ़ूर उसे मुरझाए हुए फूल के समान ठुकरा देगा।'

'मगर अनवरी की बद-क़िस्मती पर हमारा ज़ोर ही क्या है?-कहते हुए मैंने चम्मच हलुवे पर रक्खा और कहा-हाँ, उससे अपने कुल ज़ेवर छीन लेना-ज़रूर-ज़रूर। यह ज़माना नेकी का नहीं है।'

'अगर ग़फ़ूर चाहेगा'-शबनम चम्मच की ओर हाथ बढ़ाती हुई बोली-तो भी मैं उसे अपने पास रखने की नहीं। अलबत्तह अनवरी से ज़ेवर न छीन सकूँगी। कैसे कहूँगी कि तू मेरे ज़ेवर उतार दे। खुदा तुम्हें सलामत रक्खे, मेरे लिये ज़ेवर-ही-ज़ेवर हैं।'

यह कहकर शबनम ने मुसकिरा दिया। मगर उस मुसकान में आँसुओंकी कितनी धाराएँ छिपी हुई थीं, यह मैं ही जानता हूँ।

× × ×

ग़फ़ूर अलग रहकर अपनी गृहस्थी सँभालने लगा। मगर शबनम के बिना उसका चलाव चलाना मुश्किल था। इसलिये उसने धीरे धीरे शबनम को फिर पिघला लिया। वह ज़रूरत पड़ते ही आता और बेहयाई से शबनम के सामने हाथ फैला देता। शबनम उसके तमाम ऐब भूल जाती, उसकी ममता उमड़ उठती और वह ग़फ़ूर की ज़रूरत रफ़ा कर

देती। मगर ग़फ़ूर अपनी ज़रूरत रफ़ा होते ही शबनम की ओर आँख उठाकर भी न देखता। शबनम के दिल में क्या दर्द है, उसके दिन किस तरह सुख-दुख से बीतते हैं, इन बातों से ग़फ़ूर-को कोई सरोकार न था। जब शबनमको उसके इस व्यवहार की याद आ जाती, तभी उसकी आँखों से चार आँसू गिर जाते और वह कराहकर कहती 'तू इतना संग-दिल है ग़फ़ूर!'

ग़फ़ूर धीरे-धीरे दो बच्चों का बाप हो गया, मगर कभी उसने या उसकी बीबी ने यह न किया कि बच्चे लाकर शबनम की गोद में तो रख दिए होते। शबनम उसके बच्चें को देखती, उनकी मीठी किलकारियां सुनती, तो अधीर हो जाती। उसके जी में आता कि झपटकर उनको गोद में उठा लूँ, उनके मुखड़ों पर चुम्बनों की झड़ी लगा दूँ, मगर न उठा सकती। बेचारी दिल मसोसकर रह जाती। उसकी आँखें छलछला आतीं, और वह आसमान की ओर नज़र उठाकर बड़ी ही करुण ध्वनि में कहती- 'या खुदा, मैं किन गुनाहों की यह सज़ा पा रही हूँ!'

मैं उसे अक्सर समझाया करता- 'शबनम, बच्चों की अभिलाषा में क्यों इस तरह घुलती रहती हो, बच्चे मिल जायँगे, तो क्या करोगी? देखती नहीं हो कि जिनके बच्चे हैं, उनको हमेशा लालन-पालन और सुख दुख की चिन्ता सताती रहती है। इस मुसीबत का नाम तो ख़ुशी नहीं है।' मगर मा की ममता को ऐसी बातों से कहाँ तसल्ली होती है। शबनम मेरी बातें सुनती, तो ठण्ढी साँसें भरनें लगती।

शबनम केवल प्रेम करना जानती थी। प्रेम करने के सिवा उसकी और कोई अभिलाषा नहीं थी। उसने प्रेम की जो सम्पत्ति पाई थी, उसे वह लुटा देना चाहती थी, क्योंकि उसे लुटा देना ही उसका सुख था। और जब नहीं लुटा पाती थी, तो मारे दुखके व्याकुल हो उठती थी। ऐसे स्वच्छ प्रेम को मूर्खता भले ही ठुकरा दे, पर खुदा तो उसकी क़दर

ही करता है; क्योंकि वह प्रेम-मय है। जब शबनम की आहें उसके पाए-तख़्त से टकराईं, तो उसने शबनम को एक-एक करके दो बेटियाँ—प्रेमकी दो मूर्तियाँ दे दीं; क्योंकि वह स्वयं प्रेम—मयी थी। शबनम ने बेटियाँ क्या पाईं, मानो दुनिया की तमाम दौलत पा ली। अब एक बार फिर से उसकी नई ज़िन्दगी शुरू हुई। वह अपनी बेटियों के साथ दिन—भर कोयल के समान कूकती रहती और उनको अपना प्यार देती देती अपने आप को भूल जाती।

प्रेमी सभी को सुखी देखना चाहता है, और दूसरे के सुख में सम्मिलित होकर सुख प्राप्त करने की उसकी अभिलाषा रहती है। शबनम ग़फ़ूर के सुखमें शामिल होकर सुख भोगना चाहती थी और यह अभिलाषा पूरी न होना ही उसके दुखका कारण था। मगर स्वर्थी की दुनिया निराली होती है; वह अपने सिवा किसी को सुखी नहीं देखना चाहता। दूसरे का सुख ही उसका बड़ा दुख होता है। अब ग़फ़ूर और अनवारी को शबनम का सुख भला मालूम न होता। जब वह अपनी बच्चियों के साथ खेलती, तो दोनों मियाँ—बीवी उसकी तरफ़ नाक सिकेड़कर और आँखें तरेर कर घूरते।

एक मर्तबा की बात है, शबनम को मलेरिया बुख़ार आने लगा। वह दो महीने तक बुरी तरह बीमार रही। मगर ग़फ़ूर या उसकी बीबी ने एक बार भी उसकी ख़बर नहीं ली। शबनम की बेटियाँ भूखी प्यासी बिलखा करतीं, मगर उन मियाँ—बीबी से यह भी न होता कि बेचारियों को बुलाकर दो रूखी-सूखी रोटियाँ तो खिला दें। जब शबनम बुख़ार में बेहोश होती, और उसकी बेटियाँ, उसके पलंग के चारों ओर 'अम्मा-अम्मा' की रटन लगाए रोती-बिसूरती फिरतीं, तो वह मियाँ-बीवी अपने बच्चों के साथ क़ह क़हे लगाया करते। अन्त में लड़कियों की क़िस्मत से शबनम अच्छी हो गई, पर उसके लिये वह दोनों ग़ैरों से भी बदतर बने रहे। इस घटना से शबनम के दिल पर क्या बीती, यह तो उसने कभी बतलाया

नहीं, हाँ, एक दिन इतना ज़रूर कहा था— ' वाहरे ग़फ़ूर ! मैंने तुझे इसी दिन के लिये पाला था ! '

× × ×

शुरु में मुझे जो शंका थी, फिर शबनम ने जो भविष्य वाणी की थी, अन्तमें वह सच निकली। ग़फ़ूर अनवरी पर प्यार नहीं कर सका। कुछ दिन तो बड़ी शान्ति से गुज़र गए; और फिर धीरे-धीरे वही जुल्म-सितम, जिनको औरतों के खिलाफ़ काम में लाना, हमारे मुल्क के मर्द—नामधारी जानवर अपना पैदायशी हक़ समझते हैं। ग़फ़ूर अनवरी को गालियाँ देता, मार पीट करता, कभी दिन-दिन भर और कभी रात-रात भर घर से ग़ायब रहता, और वह गाय पर्दे की चहारदीवारी के अन्दर चौबीसों घंटे कुढ़ा करती। मैंने हत्तुल-मक़दूर कोशिश की, ग़फ़ूर को बारहा डांटा—तरह—तरह की धमकियाँ दीं; मगर उसकी आवारा-गर्दी बढ़ती ही गई। अक्ल हैरान थी, समझ में नहीं आता था कि अनवरी को इस मुसीबत से कैसे बचाया जाय। ग़फ़ूर की हरकतों ने हालत इतनी नाज़ुक कर दी थी।

गत वर्ष की बात है; अनवरी को बच्चा पैदा हुआ। चिन्ता उसके जीवन को पहिले ही चर चुकी थी, कमज़ोरी की हालत थी ही, प्रसव के बाद उसे बुख़ार आने लगा। ग़फ़ूर को अपने सैर-सपाटों से फ़ुरसत नहीं थी, शबनम उसके बच्चों के लिये मौत से भी ज़्यादह ख़ौफ़नाक थी, अब अनवरी की दवा-दारू और तीमारदारी कौन करता ? धीरे-धीरे वह खाट में मिल गई। तब एक दिन ग़फ़ूर शबनम के पास आया और बोला—' भाभी, वह इतने दिनों से बीमार पड़ी है, और तुम उसकी ख़बर भी नहीं लेतीं। बतलाओ, मैं क्या करूं ? — '

' मैं बतलाऊँ, '—शबनम ने गुस्से से उबलकर कहा—' तुम क्या करो ? तुम शराब पियो, जुआ खेलो, रात-रात भर घर से ग़ायब रहा करो। बे ग़ैरत कहीं के ! मैं कौन हूँ, जो तुम्हारी ख़बर लेती फिरूँ ? '

गफ़ूर चुपचाप चला गया।

धीरे-धीरे कुछ दिन और बीत गए। अनवरी की हालत और भी बिगड़ गई। वैद्यों और डॉक्टरों ने बतलाया—'इसे तपेदिक़ हो गया है।'

शबनम ने भी यह खबर सुनी और मुझसे कहा—'उफ़! हम लोगों ने बड़ी ग़लती की। मैं नहीं समझती थी कि उसे तपेदिक़ हो जायगा। सुना है कि तपेदिक़ का मरीज़ बचता नहीं। तुम कहो, तो मैं उसे एक बार देख आऊँ। फिर जैसा मुनासिब होगा, वैसा किया जायगा।'

मैंने जवाब दिया—'शबनम, कैसे कहूँ कि जाओ। अनवरी तुम्हारी तरफ़ देखती तक नहीं, और गफ़ूर तुमसे सीधे बात भी नहीं करता। वह दुनिया की नज़रों में ज़रूर मेरा भाई है; मगर सच पूछो, तो उससे मेरा कोई रिश्ता नहीं है। लानत है ऐसे भाई पर; नालायक़ ने तमाम शहर में मेरा नाम बदनाम कर रक्खा है। मैंने जिस बात को मना किया, वह उसे करके रहा। मैं जानता हूँ, तुम जाओगी, तो उसके भले की कहोगी, मगर वह ताव-पेंच खायगा। तुम्हारी तबीयत चाहे, जाओ; न चाहे, न जाओ।'

शबनम चली गई; मगर वहाँ किसी ने उसकी बात भी न पूछी और जब उसने गफ़ूर से दरियाफ्त किया कि अनवरी की तबीयत का क्या हाल है, तो वह तमककर बोला—'हाल क्या है, तुम्हारी मुराद पूरी हो रही है?'

फिर शबनम की हिम्मत और बात करने की नहीं हुई। वह मुँह लटकाए उल्टे पैरों लौट आई। 'कहो,'—मैंने ताना देकर उससे पूछा—'ले आई देवरानी की खबर?'

'कहाँ की देवरानी—कैसी देवरानी!'—उसने खीझकर जवाब दिया—'कम्बख्त मर रही है, मगर दिमाग़ इतना कि उसने मुझे देखते ही मुँह फेर लिया। और गफ़ूर तो हैवान है ही। उसका ख़याल सुनो, मैं चाहती हूँ कि अनवरी मर जाय। क़सम है, जो अब कभी मैं उससे बात भी करूं,

या उसकी देहली पर पैर रक्खूँ; चाहे उसकी बीबी बचे, चाहे मरे।

इसके बाद वह अपनी बच्चियों को सँभालने लगी।

मैंने मन-ही-मन सोचा–ग़फ़ूर ने शबनम में कितनी तब्दीली कर द
मानों अब इसके हृदय में थोड़ा भी रस न बचने पायगा। उफ़!
शबनम है, जो एक दिन अपने को ग़फ़ूर पर निसार किया

शबनम मज़बूती से अपने क़ौल पर क़ायम रही। अनवरी
दिनोंदिन बिगड़ती गई; मगर शबनम ने उसकी चर्चा भी न
अपनी बच्चियोंके साथ खुशियाँ मनाने में इस तरह मगन र
उसके घर में पूरी तरह अमन-चैन है। उसकी यह हालत दे
वह दिन याद आने लगते; जब ग़फ़ूर के सर-दर्द से ही वह घबर
थी; और अब ग़फ़ूर के लिये जैसे उसके हृदय में ज़र्दे भर भी
रह गई थी। प्रेम का यह संकुचितरूप देखकर मुझे ताज्जुब होने
लगता था।

मगर प्रेम का रूप संकुचित होना असम्भव है–यह बात तब मा
हुई, जब एक दिन अचानक शबनम ने मुझ से कहा–'यह दरख्त
पाला हुआ है। जब यह एक कोमल पौधा था, तब मैं इसे अपने अर
के पानी से सींचा करती थी। इसे पनपते और लहलहाते हुए देखक चमक
आँखें बारह वर्ष तक सुख लूटती रही हैं। अब यह ज़हरीले की
घर हो रहा है। मैं चाहती हूँ कि हृदय से इसकी मुहब्बत निकाल
मगर लाचार हूँ।' या

मैंने प्रफुल्लित होकर जवाब दिया–'शबनम, तुम्हारे हृदय करने
महानता पर मुझे गर्व है।' फ़ूर ने

शबनम उसी तरह बोली–'कीड़े उसे धीरे-धीरे खोखला कर उसके
और मैं देख रही हूँ। बतलाओ, अपने दिल को कैसे ढाढस बँधा

'तुम्हीं कहो, मैं क्या करूँ?'–मैं एकबारगी कह उठा। उसकी

हो, तुम्हीं अनवरी का इलाज कराओ।'—उसने आशा-भरे स्वर
।—'मेरी तो क़िस्मत फूटी है। मैं वहाँ जाऊं—उन लोगों को तो यह
वारा नहीं। मगर जी नहीं मानता। मैं उसे ब्याह कर लाई हूँ, और
शब- सामने दम तोड़ रही है। उसके बच्चे जब देखो, तब रोया-
बड़ी गलतः करते हैं। अगर मैं उनको सँभालूँ और ख़ुदा न करे कहीं
है कि तपे ' इसके आगे शबनम कुछ न कह सकी। उसकी आँखें
आऊँ। [

मैंने ज े समझाया—यही तो मुसीबत है शबनम! आजकल नेकी
तरफ़ दे बनती है। मर्ज़ अब लाइलाज हो गया है। आख़िरी नतीजा
दुनि ओं में झूल रहा है। हमने इलाज की ज़िम्मेवारी ली नहीं कि
कलंक का टीका हमारे मत्थे लगाया।'

'उफ़! कितनी बेबसी है!'—कहकर शबनम ने आँखें पोंछ लीं।

मगर वह ग़फ़ूर के दरवाज़े पर नहीं गई।

एक दिन ग़फ़ूर अपने दोनों बच्चों को लेकर आया। स्वार्थ-साधन के
लिये आते समय उसे किसी प्रकार का संकोच मालूम नहीं होता था,
शबनम के द्वारा स्वार्थ-पूर्ति कर लेना वह अपना हक़-सा समझता था।
मय वह बड़ी आसानी से शबनम को अपनी भाभी मान लेता था,
ुद उसके सामने वही अबोध देवर बन जाता था। आज पहली
उसके बच्चे शबनम के सामने आए थे। इसके पहले अगर वह
फ़ आते भी थे, तो अनवरी उनको झपटकर उठा ले जाती थी;
मेरे घर में कोई डाइन बसती थी। आज ग़फ़ूर को दोनों बच्चों
थ आया देख, मैं समझ गया कि इसे ज़रूर कोई ज़बर्दस्त स्वार्थ
ंच लाया है।

मी!'—ग़फ़ूर दोनों बच्चों को शबनम के निकट करते हुए बोला-
रही है और इन कम्बख़्तों ने मेरी जान अज़ाब में डाल रक्खी

है। अगर तुम्हारी तबीयत चाहे, इनको सँभालो. न चाहे, न सँभालो। मैं तो परेशानी बर्दाश्त करने से रहा।' और इसके बाद ही वह चला गया। शबनम का जवाब सुनने की उसने कोई ज़रूरत नहीं समझी।

मेरी तबीयत में आग लग गई। ज़रूरत पड़ी तो हुक्म चढ़ाने आ गया। गोया भाभी इसकी बाँदी है। मगर शबनम ने छोटे बच्चे को उठाया, छाती से लगाया और उसका मुँह चूम लिया। नन्हे-से बच्चे पर दुलार की बारिश हुई, तो उसने मुसकिरा दिया और उसका मुरझाया हुआ मुखड़ा एकबारगी खिल उठा। मैंने शबनम से पूछा —'क्या तुम सचमुच इन बच्चों की देख-भाल करोगी?'

शबनम ने गम्भीरता-पूर्वक जवाब दिया—'खुदा की मर्ज़ी तो यही जान पड़ती है।'

मैंने ताज्जुब से शबनम की तरफ़ देखा। फिर मुसकिराकर कहा—'और अपनी मर्ज़ी की न कहोगी। खैर मैं तुम्हारे मामले में दखल न दूँगा। मगर ऐसा न हो कि किसी दिन ये बच्चे तुम्हारे लिये गफ़ूर से भी ज्यादह जलानेवाले और साँप-बिच्छू से भी ज्यादह ज़हरीले साबित हों।'

'मुमकिन है' मगर बच्चे तो साँप-बिच्छू के भी प्यारे मालूम देते हैं! कहकर शबनम ने मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में मुहब्बत की ‍ और आवाज़ में खुशी की झलक थी।

× × ×

उस दिन से शबनम की आत्माने मानों, आज़ादी पाली। गफ़ूर अनवरी के कहने से दुनिया भी मुझपर किसी प्रकार का सन्देह न लगे-केवल इसी भय ने शबनम की ममता को दबा रक्खा था। ग़ ज्योंही उसे बच्चे सौंपे, त्योंही भय की वह चट्टान हट गई, औ हटते ही शबनम की ममता का सोता धार बाँधकर बह निकला।

शबनम इस तरह अनवरी की खिदमत करने लगी, गोया वह

ख़ास लड़की हो। जब वह अनवरी के सर को गोद में रख लेती, तो अनवरी एकटक उसके मुखड़े को निहारती और फिर उसकी आँखों से आंसू बहने लगते। शबनम अपने अंचलसे उसके आँसू पोंछती और कहती 'मत रोओ अनवरी। खुदा को याद करो।'

एक बार शबनम ने उससे पूछा–अनवरी! मेरी लाड़िली! तू इस तरह क्यों रोने लगती है? तेरे आँसू देखती हूँ, तो मेरा कलेजा टुकड़े–टुकड़े होने लगता है।'

अनवरी बोली–'अपनी बदनसीबी पर रोती हूँ। बुआ, तुम मेरे इतने निकट थीं, फिर भी मैं तुम्हें न पासकी। हाय! अगर कुछ दिन पहले तुम्हें पालेती, तो...'

इसके बाद वह शबनम के गले से लिपट गई और फूट-फूटकर रोने लगी।

शबनम की आँखें भी बह रही थीं। वह अनवरी को समझा रही थी–तरह–तरह से दिलासा दे रही थी। बड़ी देर बाद अनवरी के आँसू बन्द हुए।

शबनम ने रात–दिन एक कर दिए। मगर अनवरी बराबर मौत के मुँहकी तरफ़ खिंचती गई। एक दिन वह अपने दोनों बच्चों की ओर इशारा करते हुए बोली–'क्यों बुआ, क्या ये तुम्हारे नहीं हैं?' यह कहते–कहते उसकी आँखें भर आईं।

'पगली!'–उसके सर पर हाथ फेरते हुए शबनम ने कहा,–'कैसी बातें करती है! ये भी मेरे हैं, तू भी मेरी है। खुदा गवाह है, तुम सबको मैं हमेशा अपना ही समझती रही हूँ।'

'बस बुआ,'–अनवरीका सूखा और पीला चेहरा चमक उठा, और वह ख़ुशी–भरी हुई आवाज़ से बोली,–अब मैं सुखसे मर सकूँगी। मुझे 'उनका' कोई भरोसा नहीं है। तुम इन बच्चों पर रहम की नज़र रखना। अगर इनपर तुम्हारे दामन की छाया बनी रहेगी, तो ये जी जायँगे, और फिर आँसू उसके मुर्दनी–छाए हुए चेहरे को तर करने लगे।

कुछ ठहरकर उसने फिर कहा—'बुआ' अब मेरी घड़ियाँ पूरी हो गई हैं। मौत मुझे लेने आ पहुँची है। शायद ही कल का सवेरा देख सकूँगी। मैंने तुम्हें हमेशा जलाया है। एक बार भी तुम्हें समझने की कोशिश नहीं की। वह ग़लती आच कलेजेमें काँटे की नोंक के समान चुभ रही है। हाय! अगर मैं अपने कानों से सुनती—अपनी आँखोंसे देखती तो....। आह! मैंने तुम्हारे साथ कितने गुनाह किए हैं। माफ़ी माँगूं भी, तो कैसे माँगूं। मगर नहीं बुआ--मेरी अछी बुआ, ख़ुदाके वास्ते मुझे माफ़ कर दो।'

यह कहते—कहते अनवरी को खाँसी आ गई। वह बड़ी देर तक खाँसती रही। जब खाँसी का दौरा बन्द हुआ तो कराहती हुई बोली—'हाय नसीबन चाची, ख़ुदा तुम्हारा भला करे!'

यह सुनते ही मैं चौंक उठा।

शबनम ने पूछा--'यह क्या कहती हो—उन्होंने तुम्हारा ऐसा कौन-सा क़ुसूर किया है?'

अनवरी धीमी आवाज़ से बोली—'बुआ, यह आग उन्हीं ने लगाई थी। उस दिन उन्हीं ने कहा था 'अगर मैं न पहुँच जाती, तो शबनम ने तुम्हारी लट काटली होती! अपना भला चाहो, तो शबनम की छाया भी न दाबना।' वही हम लोगों को अक्सर बतलाया करती थीं—'शबनम तुम्हें और तुम्हारे बच्चों को नुक़सान पहुँचाने के लिये यह सोच रही हैं, वह सोच रही हैं।' मैंने 'उनसे' बहुत—कुछ कहा, पर मेरी चली नहीं। नसीबन चाची की बातों पर उनको बड़ा एतक़ाद रहता था। बुआ, किसी को क्या ऐब लगाऊँ, असल बात यह है कि मेरी क़िस्मत ही फूटी थी।'

और उसका गला भर आया, वह सिसकियाँ लेने लगी।

'अनवरी, तूने कभी तो इन बातों की चर्चा की होती!' कहकर शबनम भी रोने लगी।

यद्यपि अनवरी अब इस संसार में नहीं है, मगर जब मुझे उसका ख़याल आ जाता है, तो मेरे हृदय में यही सवाल हलचल मचाने लगता है कि उस नादान छोकरी की अकाल मौत का जवाबदेह कौन है, मैं, शबनम, ग़फ़ूर या नसीबन चाची?

ईद के दिन—

ईदगाह जाने का समय हो गया था। परंतु कोतवाल साहब अभी बैठकख़ाने में आरामकुर्सी पर लेटे हुए थे, और 'तंजीम' के 'ईद-नम्बर' के सफ़े उलटने में मशग़ूल थे। इतने में एक कान्स्टेबुल आया और सलाम करते हुए बोला—"हुज़ूर, सीनियर और जूनियर साहब आ गए हैं।"

कोतवाल साहब ने दीवाल-घड़ी पर एक उड़ती हुई निगाह डाली और कान्स्टेबुल से कहा—"अभी तो नौ भी नहीं बजे। नमाज़ तो दस बजे होगी ख़ैर; दस-पन्द्रह मिनिट पहले पहुँच जाने में कोई हर्ज नहीं। अच्छा, तुम जाकर उन लोगों से कहो—मैं अभी तैयार होकर आता हूँ!"

कान्स्टेबुल चलने लगा, तो कोतवाल साहब 'ईद-नम्बर' को मेज़ पर फेंकते हुए बोले—"बदमाश कहीं के! ऊपरी आमदनी चुपके-चुपके हज़म कर जाते हैं और मेरे सामने बनते हैं टायम के ऐसे पाबन्द गोया ईमान और ज़बान के बड़े सच्चे हैं। ख़ैर, देखा जाएगा।" और इसके साथ ही

उन्होने जोर से आवाज लगाई–'ओ शेव परशाद !'

कान्स्टेबुल मुड़ा, तो कोतवाल साहब ने आराम-कुर्सी छोड़ते-छोड़ते. फरमाया–"वापिस आने की जरूरत नहीं। जरा शोफ़र से बोल देना-वह कार तैयार रक्खे। नालयक एक ही काहिल है।" फिर वह चप्पलें चट्-चट् करते हुए ऊपर दोमंजिले पर ड्रइंग-रूम में चले गए।

वहाँ पहुँचते ही उन्होंने सिर में तेल मला और बालों में कङ्घा किया। फिर पलकों की कोरों पर सुरमा लगाया और तब इत्र का नम्बर आया। शीशी का कार्क खोलते ही उनकी तबीयत फड़क उटी। वह इत्र की एक बूंद मूंछों में मलते हुए बोले–"तेल ही इत्र से क्या कम था मगर यह हिना तो बस, गजब ढा रहा है। बड़ी कीमती चीज है। फ़ल्जू इतना पैसा खर्च करने की क्या जरूरत थी ? मगर इस बेबकूफ को कौन समझाए। बीबी क्या है, हीरे की कनी है। बडे बडे अक्लमन्दों को, नामी-नामी बदमाशों को, मैं चुटकी बजाते बना देता हूँ। मगर इस पर मेरा कोई जादू असर नहीं करता। और यह नसीबन तो एकदम शैतान की खाला है। जाहिरा कैसी गमजदा मालूम देती है, मगर भीतर ही भीतर घर घालती है। इसीने तो सब खेल बिगाड रक्खा है। आखिर बाजार से यही तो इत्रों के नमूने लाई होगी। मैंने माना कि बीबी के मैके से सौ रुपए माहीना आते हैं, मगर क्या पानी की तरह बहाने के लिये ? हाँ, चीज मुफ्त मिल जाए, तो और बात है। खैर।"

इसके बाद कोतवाल साहबने आज के लिबास का मुलाहजा किया-चूड़ीदार पायजामा, ऊदे रंगवाली चमकीली अचकन, रेशमी मोजे और फ्लैक्स के अल्बर्ट स्लीपर्स। कोतवाल साहब के हाथ मैशीन की तरह चलने लगे और ये सब चीजें एक-एक करके उनके शरीर की शोभा बढ़ाने लगीं। अन्त में उन्होंने सिर पर गहरे कत्थई रंग की फैज रक्खी-कुछ तिरछी, कुछ आगे को झुकी हुई। अब वह भरी हुई मूछों को ऊपर

चढ़ाते-चढ़ाते क़दे-आदम शीशे के सामने पहुँचे और उसमें अपनी सूरत शक्ल देखते हुए बोले–"हाँ, अब ठीक है। गो यह लिबास कोट-पतलून के सामने फीका जँचता है, मगर बुरा भी मालूम नहीं देता। फिर खुदाने मुझे तो वह सूरत शबाहत अता फ़रमाई है कि मेरे जिस्म पर सभी तरह के लिबास खिल उठते हैं। ऊँचा पूरा तगड़ा बदन, गोल रोआबीला चेहरा, बड़ी बड़ी आँखें, गेहुँआँ रंग और उम्र चालीस के क़रीब; कौन कह सकता है, कि मैं खुबसूरत नहीं हूँ!"

इस तरह खुश होते हुए वह खूँटियों की तरफ़ बढे, जिनके सहारे कई कोट टँगे हुए थे। उन्होंने एक कोट की पहली जेब में हाथ डाला, फिर दूसरी में, फिर तीसरी में, फिर चौथी में और तब ताज्जुब में आकर कहा–"गज़ब खुदा का! ऐसा तो कभी नहीं हुआ। मेरे घर में चोर! मुझे खूब याद है, परसों मैं यही कोट पहने था। इसी में मैंने नोट रक्खा था। मुझे यह भी याद है कि मुंशी ने वह नोट देते हुए कहा था–आज रिपोर्ट लिखाने वालों से ज्यादह आमदनी नहीं हुई और मैंने उसे झिड़कते हुए नोट भीतरी जेब में रख लिया था!"

उन्होंने फिर कोट की तमाम जेबें टटोल डालीं। मगर उन में नोट कहाँ था। कोतवाल साहब बेचैन होकर बोले–"कहीं बीबी साहबा के हाथ न लग गया हो! मगर उनकी तो यह आदत नहीं। बीसों मर्तबा रिश्वत के सैकड़ों रुपए जेब में पडे रहे हैं लेकिन कभी एक पैसे का फ़र्क़ नहीं पड़ा। कहीं मैंने ही तो खर्च नहीं कर दिया!" वह मेज़ के निकट पहुँचे। और एक सिगरेट सुलगाकर गुम–सुम हो गए–मानो दिमाग़ पर कुछ ज़ोर डालने लगे। सहसा उनकी दृष्टि खिड़की को लाँघती हुई कम्पाऊण्ड में जा पहुँची जहाँ शोफर कार को झाड़ पोंछ रहा था और उसीके पास तीन बच्चे खेल रहे थे, उनमें दो बच्चे खुद कोतवाल साहब के थे और पूरे ठाट–बाट में थे। तीसरा बच्चा उन दोनों में कुछ बड़ा–सात आठ साल

का था। उसका लिबास बहुत ही मामूली था, मगर था बिलकुल नया। वह कोतवाल साहब के बच्चों को खिला रहा था। कोतवाल साहबने उसे गौर से देखा, और मुँह से धुआँ छोड़ते हुए धीरे-धीरे कहा-"अच्छा! यह नसीबन का छोकरा है। इसने ये नए कपड़े कहाँ पाए? सूअर का बच्चा नम्बर एक का बदमाश है। क्या ताज्जुब, इसी ने नोट पर हाथ साफ़ किया हो।" उन्होंने इशारे से उसे अपने पास बुलाया।

लड़का उछलता-कूदता आया और कोतवाल साहब के सामने खड़ा हो रहा। उन्होंने उसे एक बार नीचे से उपर तक देखा। फिर होंठों को मुसकान से रंग-कर कहा-" तुम्हारे कपड़े तो बड़े अच्छे हैं वहीद! ये तुम्हें कहाँ मिले? देखो सच-सच बतलाना; हम तुम्हें मिठाई खाने लिये पैसे देंगे।

प्रशंसा, पैसे और मिठाई में आनन्द उत्पन्न करनेकी कितनी शक्ति होती है। यह माया जाल देखा, तो वहीद पुलकित होकर बोला-"हम बताएँ, कल अम्माने ले दिए थे।"

कोतवाल साहबने पूछा-"अच्छा, अब यह बतलाओ, अम्मा के पास रुपए कहाँ से आए थे?"

वहीद ने जवाब दिया-"हम बताएँ, तुम किसीसे कहोगे तो नहीं?"

अशा के उजेले की यह चमक देखी, तो कोतवाल साहब का चेहरा खिल उठा। वह वहीद को अपनी जानिब खींचते हुए बोले-"हाँ हाँ! तुम बतलाओ, हम किसी से न कहेंगे।" उनकी आवाज़ में मुहब्बत, मगर आँखोंमें कुटिलता भरी हुई थी।

वहीद ने कहा-"हम बताएँ। कल हमारी अम्माके पास बहुत सारे रुपए पैसे थे। जेब भरी हुई थी। फिर हम बताएँ; वह हमें बाज़ार ले गई। वहाँ उसने हमें टोपी ले दी, क़मीज़ ले दी, पैजामा ले दिया और हम बताएँ; कहती थी-अब पैसे ख़तम हो गए हैं, जूते फिर ले दूँगी, तनख़ाह मिलने

पर। तुम्हारे जूते तो बड़े चमकदार हैं, हम भी ऐसे ही जूते लेंगे। अब लाओ पैसे; हम बताएँ, तुम कहते थे न?" उसकी आँखों में खुशी और आवाज़ में सरलता भरी हुई थी।

आशाकी झलक इस तरह गायब हो गई, तो कोतवाल साहब का चेहरा उतर गया। मगर वह उसका पीछा छोड़नेवाले नहीं थे। उन्होंने वहीद के हाथ छोड़ दिए; क्षण भर सूनी आँखों से सामने की तरफ़ देखा, और तब ज़ोर से आवाज़ लगाई "नसीबन! ओ नसीबन!"

दूसरे ही क्षण ड्राइङ्ग रूम में एक औरत दाखिल हुई। ठिंगना क़द, दुबला शरीर, गेहुँआँ रंग, उम्र क़रीबन तीस साल, इज़ार में कई पैवन्द, मैली और फटी ओढ़नी, जिसके छिद्रों में से रूखे बालों वाली दो एक लटें बाहर निकली हुईं। कोतवाल साहब के सामने वहीद को देखते ही वह सहम गई और सिमटकर खड़ी हो रही।

कोतवाल साहब ने उस पर एक चुभती हुई नज़र डाली और कहा-"नसीबन, इस कोट में एक नोट रक्खा था। जाकर उनसे दरयाफ्त तो कर, उन्होंने देखा है या नहीं? मगर देख, पूछना ज़रा सलीक़े से कहीं उनका मिज़ाज गरम न हो उठे!"

नसीबन लौटी, मगर आहिस्ता-आहिस्ता, मानो कोई ख्याल उसे आगे बढ़ने से रोकना चाहता था। कोतवाल साहब ज़रा कड़े पड़कर बोले-"जल्दी कर!"

नसीबन ने क़दम आगे बढ़ाते हुए धीरे-से उत्तर दिया-"हुज़ूर, मेरी हिम्मत नहीं पड़ती।"

कोतवाल साहब थे-इन्सान परखने वाले जौहरी। नसीबन की गति-विधि से उनके हृदय-देश में पुनः आशा की सोनहली रेखा चमक उठी-यह आई, तो डरती डरती सामने खड़ी हुई; अब जा रही है, तो इस तरह, गोया पैरों में जान नहीं है। चोरी का इससे बढ़िया सुबूत और क्या होगा?

उन्होंने कड़ककर आवाज़ दी–" इधर लौट ! "

नसीबन का हृदय काँप उठा। वह लौटी, मगर उसका मुँह सूख गया था। कोतवाल साहब उसी लहजे में बोले–" अगर नोट तूने चुराया है, तो बतला दे। "

नसीबन ने दोनों हाथ बाँधकर कहा–" हुजूर !......." मगर इसके आगे उसकी ज़बान से कोई शब्द न निकल सका। बेचारी का गला रुँध गया। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों से टप्-टप् आँसू गिरने लगे। वहीद दौड़ कर उससे लिपट गया और बोला–" अम्मा, प्यारी अम्मा ! तू रोती क्यों है ? "

आँसुओंने मानों चोरी की स्वीकृति की सूचना दी, और कोतवाल साहब का क्रोध उबल पड़ा। वह दांत पीसकर बोले–" हरामज़ादी, तेरी यह जुरअत कि पुलिस–कोतवाल के घर में चोरी करे। यह नहीं जानती कि यहाँ उड़ती चिड़िया परखने वाले हैं। आदमी की नस-नस पहिचानते हैं। और इसके साथ ही उन्होंने झपटकर उसे दो करारी ठोकरें जमाते हुए कहा–" चोट्टी कहीं की ! मैं अभी तेरा चालान करूंगा। बोल, तूने नोट क्यों चुराया ? "

" या अल्लाह ! " कहती हुई नसीबन औंधे मुँह फ़र्श पर गिर पड़ी और फूट–फूट कर रोने लगी। मारे गुस्से के वहीद की आँखें जल उठीं। उसने चीख़कर कोतवाल साहब से कहा–" मेरी अम्मा को क्यों मारते हो ? " इसके बाद वह नसीबन पर गिर पड़ा और ' अम्मा–अम्मा ' पुकारता हुआ रोने लगा।

इसी समय वहाँ एक रमणी आ पहुँची जिसकी आयु, लगभग तीस वर्ष थी। मँझोला क़द, मांसल शरीर, निहायत ख़ूबसूरत गोल चेहरा, उँची लम्बी पतली नोकीली नाक, कमान जैसी भवों के नीचे बड़ी–बड़ी काली आँखें, पतले रस भरे होंठ, गुँधी मैदा के समान रंग, माथे पर बालों की बड़ी

सी वेणी और उससे पानी की बूंदें टपकती हुई; कपड़े अस्त-व्यस्त और भीगे हुए। यह कोतवाल साहब की बेगम साहबा थीं। उन्होंने आते ही पूंछा-"क्या मामला है?"

कोतवाल साहब ने उन पर एक कड़ी निगाह डाली और बुलन्द आवाज़ में कहा-"आप गुस्लख़ाने में तशरीफ़ ले जाएँ; मुझे पुलिस का फ़र्ज अदा करने दें।"

मगर नसीबन कराहती हुई उठी और बेगम साहबा के क़दमों से लिपटकर बोली—"मालकिन, मेरे वहीद पर तरस खाएँ। अल्लाह आपके बच्चों को इस नेकी का एवज़ देगा। अपने बच्चों के सदक़े में मुझ पर रहम कीजिए। ख़ुदा गवाह है, मैं इनके नोट के बाबत कुछ नहीं जानती।" फिर वह धीमी, मगर कलेजे को चीरनेवाली आवाज़ में गुहराई-"ऐ वहीद के अब्बा, मुझे मँझधार में छोड़कर कहाँ चले गए!"

लगभग पाँच वर्ष से नसीबन बेवा की ज़िन्दगी बसर कर रही थी। उसका शौहर भी कोतवाल साहब के यहाँ नौकर था। वह केवल तीन दिन की बीमारी के बाद, उसकी कलाइयाँ सूनी कर घर से बाहर हो गया था। उस समय सम्पूर्ण संसार नसीबन के लिये अन्धकारमय हो रहा था। वह बार-बार दो-ढाई साल के वहीद को हृदय से लगाती और रोती-बिसूरती थी। तब बेगम साहबा की सहृदयता ही उसके आँसू पोंछती थी, उसे आश्वासन देती और उसका दुःख-भार हलका करती थी। उनका यह ऐहसान नसीबन के रोम--रोम में समाया हुआ था। वह तन-मन से उनकी ख़िदमत करती थी, और इसके एवज़ में तीन रुपए माहाना और खाना कपड़ा पाती थी।

बेगम साहबा बहुत चाहती थीं कि वह हमेशा, ख़ुश रहे और साफ़ सुथरे कपड़े पहना करे। मगर वह अपनी गहरी उदासी और मैले-कुचैले तथा फटे पुराने वस्त्रों में ही आत्म-सन्तोष प्राप्त करती थी। उसका कहना था—

"ख़ुशी और साफ़ सुथरे कपड़े बनाव-सिङ्गार की चीजें हैं, जिनसे बेवा का नाता हमेशा के लिये टूट जाता है।" बेगम साहबा ने उसे कई मर्तबा समझाया था-"नसीबन, अगर तेरी राय हो, तो हम कहीं तेरा अक्द कर दें। और अभी तेरी उम्र ही क्या है, कब तक बेवा बनी बैठी रहेगी?" मगर नसीबन ने उनको हर मर्तबा एक ही जवाब दिया था-"नहीं, अब इसकी ज़रूरत नहीं है। मेरी सब हसरतें ख़तम हो चुकी हैं। आप जानती हैं कि इस दुनिया में वहीद के सिवा मेरा कोई नहीं है। उफ़! वह मुझ पर कितनी मुहब्बत करते थे। उनकी उस मुहब्बत की निशानी वहीद की शकल में मेरे पास मौजूद है, जो अब मेरी बाक़ी ज़िन्दगी का सहारा है। अगर मैं कहीं अक्द कर लूँगी, लो कटीले रास्ते में उलझ जाऊँगी। फिर मेरी इस दौलत-बेबहा की हिफ़ाज़त कौन करेगा? नहीं, अब वहीद के अब्बा को खोकर दूसरे शौहर की कोई ज़रूरत नहीं है। अब तो फ़क़त एक अरमान बाक़ी है-वहीद सयाना हो जाय, और, ख़ुदा मुझे उठा ले। अगर आपके क़दमों में पड़ी रहूँगी, तो एक दिन वह अरमान भी पूरा हो जाएगा।"

नसीबन के इस आचरण पर बेगम साहबा मुग्ध रहती थीं। उसकी गुहार सुनी, तो उनका हृदय उमड़ उठा। उन्होंने उसे उठाया, मुहब्बत से उसकी पींठ पर हाथ फेरा और कहा-"नोट की बात पीछे सुनूँगी। पहले यह बता, कि तू इस तरह क्यों रोती-कराहती है?"

नसीबन चुप रही, मगर वहीद ने कह दिया-"हम बताएँ, साहब ने अम्मा को गालियाँ दी हैं-जूतों से ठोकरें मारी हैं।"

बेगम साहबा ने कोतवाल साहब के कड़े रुख़ की ज़रा भी परवा न करते हुए उन पर एक हिक़ारत भरी निगाह डाली। मानों उनकी आँखें कह रही थीं-हम तुम्हारी इस हरकत पर नफ़रत करती हैं; मगर ज़बान ने संजीदगी के साथ उनसे कहा- "ग़ज़ब है! मेरे घर में यह ज़ुल्मो-सितम!

यह मुसीबतों की मारी ग़रीब, और आप इस पर जूतों की ठोकरें मारें। क्या आपको ख़ुदा का कुछ ख़ौफ़ नहीं है?"

कोतवाल साहब कुर्सी पकड़ते हुए बोले—" बेगम साहबा, आप की ही बदौलत नसीबन के हौसले इतने बढ़ गए हैं। आप इसकी करतूत सुनेंगी, तो अश-अश कर रह जाएँगी। इसने मेरा नोट चुराया है—इसी कोट में पड़ा था।"

कोतवाल साहब के इन शब्दों से बेगम साहबा की आत्मा जैसे भीतर-ही भीतर बिलबिला उठी। उन्होंने तड़पकर कहा—" तौबा-तौबा! अरे म्याँ, ज़री ख़ुदा के तले बसना सीखिए। आज ईद का दिन है। आला और अदना सभी ख़ुशियाँ मनाते हैं; और आपने इस बेगुनाह की लाख रुपए की आबरु धूल में मिला दी। आप क्या जानें, इस फ़रिश्ता-सिफ़त औरत पर आपके वैसे पाँच रुपए वाले पाँच लाख नोट कुरबान किए जा सकते हैं। मेरे अब्बा डिपटी कलेक्टर हैं। उनके यहाँ ऐसे-ऐसे कई नोट नौकर लोग पान खाकर थूक देते हैं, और कोई कानोंकान नहीं जानता। आपको क्या मालूम, कि आपका नोट मैंने चुराया है। यही इत्र की शीशी बुलवाई थी। उस वक़्त पेटी की चाभी नहीं मिल रही थी, इसलिये मैंने आपका नोट निकाल लिया था। मियाँ, बुरा न मानिए, आपको एक सड़े से मामले का पता लगाने की तो तमीज़ नहीं है, ख़ुदा जाने, किस अहमक़ ने आपको कोतवाल बना दिया।"

फिर वह नसीबन को गले लगाते हुए बोलीं—" मेरी अच्छी बहन, यह मेरे शौहर हैं। इनकी इस हरकत पर शर्म से मेरी गर्दन झुकी जा रही है। ख़ुदा के नाम पर तू इनका गुनाह माफ़ कर दे।"

कोतवाल साहबने खिलखिलाकर फ़रमाया—" आपको मेरे गुनाह पर शर्मिन्दा होने या फ़िक्र करने की ज़रूरत नाहीं। ज़रा यह तो बतलाइए कि आप नसीबन के खातिर इतनी वकालत क्यों कर रही हैं?"

" वकालत कर रही हूँ ? नहीं, सच बात कह रही हूँ और इसलिये कह रही हूँ, कि अगर औरत की हिफ़ाज़त औरत ही न करेगी, तो कौन करेगा ? "

" ठीक है। मगर यहाँ पुलिस के आदमी हैं। रोज़ ही इस तरह के मकर-फ़रेब से मुक़ाबला करते हैं। अगर ऐसी बातों में आने लगे, तो पुलिस का ख़ातमा ही समझिए। "

" तो आप मेरी बात पर यक़ीन नहीं करते ? "

" यक़ीन करने के लिये कोई माक़ूल वजह हो, तब न ! "

पति पत्नी पर अविश्वास करे–यह नारी का भयंकर अपमान है, ऐसा अपमान है, जिसे नारी बर्दाश्त नहीं कर सकती। अपमान की यह चोट बेगम साहबा के हृदय पर बैठी। उनकी आँखों में आँसू भर आए। उन्होंने रुँधी आवाज़ में कहा–" हाय ! यह आज पता चला कि पुलिस-वाला इन्सानियत से इस क़द्र गिर जाता है, कि अपनी बीबी पर भी ऐतबार करना नहीं जानता ! "

कोतवाल साहब मुसकिराकर बोले–" आपका यह ख़याल ग़लत है। अगर हम लोग इन्सानियत से इस क़दर गिर जाएँ, तो लोगों को रात को सुख से सोना मुहाल हो जाए। मगर हाँ, हम लोगों का फ़र्ज़ बहुत कठिन होता है। वक्त आने पर पुलिसमैन को, बीबी तो बीबी, अपने बाप के ख़िलाफ़ भी क़ानूनी कारवाई करनी पड़ती है। ख़ैर, आपके रोने-धोने से कुछ न होगा। अगर नसीबन की क़िस्मत में जेल बदा है, तो इसे कौन बचा सकता है। "

बेगम साहबा नीति से काम लेना चाहती थीं, मगर कोतवाल साहब दुराग्रह पर डटे हुए थे। और नीति तथा दुराग्रह में सदा तीन और छः का सम्बन्ध रहता है। जब नीति बेकार हुई, तब बेगम साहबाने धर्म का आश्रय लिया, क्योंकि धर्म ही तो पाषाण–प्रवृति को मोम में परिवर्तित

करता है। उन्होंने कोमलता-पूर्वक कहा-" नसीबन को कोई न बचा सकेगा, तो खुदा तो बचा सकेगा, यह बेगुनाह है और बेगुनाह पर खुदा के हजार हाथ साया करते हैं-भले ही दुनियवी आँखें उनको न देख सकें। थोड़ी देर के लिये यही सही कि मैं मकर-फरेब कर रही हूँ, पर आप जरी ईद के जाहिरा उसूलों पर गौर कीजिए। आज के दिन गरीबों को खैरात क्यों दी जाती है? इसीलिये न कि वह भूखे-प्यासे न रहें और खुदा के नाम पर शुक्रिया अदा करें। आज के दिन दुश्मन भी दुश्मन से गले क्यों मिलते हैं? इसीलिये न कि खानएखुदा में कीना और बुग्ज़ जैसी गन्दी चीजें न रह जाएँ। मैं इन पाक उसूलों के नाम पर आपसे दरख्वास्त करती हूँ, कि आप गरीब नसीबन को रहम की खैरात देने से मुँह न मोड़ें, और अगर्चे यह बेगुनाह है, हमारी दुश्मन नहीं है, फिर भी आप इसे माफी बख्श दें।"

दुराग्रह अधर्म का सगा भाई है। उसने ज्योंही मुकाबिले में धर्म को पाया, त्योंही अधर्म को साथ लेकर न्याय की शरण ली, और जब दुराग्रह तथा अधर्म एक होकर न्याय का रूप धारण कर लेते हैं, तब उनकी शक्ति बहुधा अजेय हो जाती है। कोतवाल साहब संजीदा होकर बोले-" आपका फरमाना दुरुस्त हो सकता है। मगर आप महज़ चोरी के मामले में मजहब और खुदा को न घसीटें, तो बेहतर। मेरा खयाल है कि रहम और माफी से भी एक बड़ी चीज़ है और उसका नाम कानून है। कानून की पाबन्दी हर हालत में होनी चाहिए। आखिर मैं सरकार से तनख्वाह किस बात की पाता हूँ? माफ़ कीजिए, मैं कानून से आँखें चुराकर अपनी सरकार से-अपने खुदा से बेईमानी नहीं कर सकता।"

बेगम ने ज़ोर देकर कहा-" खूब सोच लीजिए, कानून इन्सान का बनाया है और रहम और माफी खुदाई न्यामतें हैं।"

मगर आत्मवञ्चना के कान नहीं होते, ज़बान अलबत्तह होती है। कोतवाल साहब दृढ़ता पूर्वक बोले-" मैं बहस नहीं करना चाहता। आप मेरे

मामले में दख़ल देकर सरकार की मुख़ालिफ़त करती हैं, जिसे क़ानून कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता। बेहतर है कि आप अपना काम देखें। मैं नसीबन का चालान करूँगा और ज़रूर करूँगा।"

क़ानून की पाबन्दी के इस प्रश्न ने बेगम साहबा के हृदय में न्याय की भावना उत्पन्न कर दी और यह भावना सदा निष्ठुरता तथा औचित्य के स्तम्भों पर आश्रित रहती है। कोतवाल साहब का निश्चय सुना, तो बेगम साहबा का चेहरा तमतमा उठा। उनकी आँखों से चिनगारियाँ उड़ने लगीं। उन्होंने फ़र्श पर पैर पटकते हुए कहा—"रिश्वत के लिये मुसीबत ज़दा लोगों को सताना क़ानून की पाबन्दी है, बेगुनाहों को जेल भिजवाना क़ानून की पाबन्दी है, और एक बेगुनाह पर रहम करना क़ानून और सरकार की मुख़ालिफ़त है। मैं आपके इस क़ानून पर ठोकर मारती हूँ। आप शौक़ से नसीबन का चालान कीजिए; मैं सफ़ाई देकर साबित कर दूँगी, कि यह बेगुनाह है—बेदाग़ है। मगर एक बात पूंछती हूँ; आप यह बतलाइए कि आपने इंडियन पीनल-कोड की किस दफ़ा के मुताबिक़ नसीबन को ठोकरें मारी हैं—गालियाँ दी हैं?"

साहस और धैर्य न्याय-निष्ठुरता के आगे—आगे चलते हैं। कोतवाल साहब कुछ कहें, इसके पहले ही बेगम साहबा नसीबन की तरफ़ मुख़ातिब हुईं, और स्थिरता-पूर्वक बोलीं—"अफ़सोस! अब कोई चारा नहीं है। क़ानून के पाबन्द मियाँ की बीबी को भी क़ानून की पाबन्दी करनी पड़ेगी। बहिन! मेरा बुर्क़ा उठा। मैं कोतवाली जाऊँगी और रिपोर्ट लिखाऊँगी, कि मैंने अपने मियाँ का पाँच रुपए वाला नोट चुराया है। मगर नहीं, अब बुर्क़े की क्या जरूरत! जब मुकदमा लड़ना है, जेल जाना है, तब बुर्क़े का क्या काम! तू भी मेरे साथ चलकर रिपोर्ट लिखा। इन्होंने तुझे चोरी का झूंठा इल्ज़ाम लगाया है, गालियाँ दीं और ठोकरें मारी हैं। मैं तेरी तरफ़ से हज़रत पर तीन—तीन मुक़दमें चलाऊँगी।" इसके बाद ही वह—नसीबन का

हाथ पकड़ कर ज़ीने की तरफ़ बढ़ीं।

दुराग्रह अधर्म और क़ानून के मेल से जो चीज़ बनती है, उसका नाम पाखण्ड है, और पाखण्ड जितना चाहे अजेय हो, मगर सत्य वह आग है, जिसमें पड़कर उसका सम्पूर्ण बल भस्म हो जाता है। बेगम साहबा का यह हाल देखा, तो कोतवाल साहब के चेहरे का रंग फ़क हो गया। वह लपक कर दरवाज़े पर पहुँचे और बोले–"क्या आपको मेरी इज्ज़त आबरू का कुछ ख़याल नहीं है?"

बेगम साहबाने दृढ़ता पूर्वक उत्तर दिया–"रास्ता छोड़ दीजिए, मैं क़ानून की पाबन्दी करने जा रही हूँ। क़ानून के मुक़ाबिले में इज्ज़त आबरू कोई चीज़ नहीं है।"

प्रतिष्ठा वह बालू की भीत है, जो न्याय अथवा सत्य का एक झोंका भी नहीं सह सकती। कोतवाल साहब ने घबराकर आग्रह–पूर्वक कहा–"ख़ुदा के वास्ते यह ग़ज़ब न कीजिए, कहीं मुँह दिखाने लायक़ न रहूँगा।"

"मगर क़ानून की पाबन्दी हो जाएगी।"

"बाज़ आया ऐसी पाबन्दी से।"

"नहीं, आप रास्ता छोड़ दीजिए। मैं क़नून की पाबन्दी करूँगी। क़ानून का दर्जा रहम और माफ़ी से ऊपर है।"

"नहीं मैं मानता हूँ, रहम और माफ़ी बहुत बड़ी–क़ानून से बड़ी, चीज़ें हैं।"

"आपकी बातों का क्या ऐतबार!"

"क़सम ले लीजिए। मैं वादा करता हूँ कि आयन्दह आपकी सही बातें फ़ौरन मान लिया करूँगा।"

"सच?"

"सच!"

"तब अपने गुनाह पर तोबा कीजिए। नसीबन से माफ़ी माँगिए।

आपने इसका दिल दुखाया है।"

कोतवाल साहब नसीबन से माफ़ी माँग चुके, तो बेगम साहबाने उनसे कहा—"अब इसे बतौर जुर्माने के पचीस रुपए दे दीजिए। आपने इसे चोट पहुँचाई है।"

कोतवाल साहबने चुपके से मेज़ की दराज़ खोली। पचीस रुपए के नोट निकाले और काँपते हुए हाथों से नसीबन की तरफ़ बढ़ा दिए। फिर बेगम साहबा से कहा—"और कोई हुक्म?"

बेगम साहबा मुसकिराकर बोलीं—"बस अब ईदगाह की राह लीजिए। मगर वहाँ खैरात ज़रा मुट्ठी खोलकर कीजिए।"

कोतवाल साहब जल्दी से इस तरह कार में जा बैठे, जैसे रिङ्ग मास्टर के हण्टर की फटकार पर शेर पिंजड़े में जा छिपता है।

मिलन

(१)

जबलपुर
५ जुलाई, १९३० ई.

प्यारी अरुणा !

एक दिन जो सुहावनी मूर्ति, कुसुम-गन्ध के समान हृदय में बैठ गई थी, जिसके दर्शन की उद्दाम लालसा सदा हृदय को उद्वेलित करती थी, जिसकी मधुर स्मृति सर्वदा हृदय को गुदगुदाया करती थी, अन्ततः मैं उसके निकट-और बहुत ही निकट आ पहुँची। आह ! मैं रोती-रोती विदा हो रही थी, और मेरे नेत्र आकुल भाव से चारों ओर तुम्हें ढूँढ़ रहे थे। जो हृदय बहुत दिनों से लहरा रहा था, वह उस मञ्जुल मूर्ति को सामने देखकर बल्लियों ऊँचा उछलने लगा था। मेरे चारों ओर जैसे एक तीव्र झञ्झावात सा-प्रवाहित हो रहा था, और मैं उसके थपेड़े खा-खाकर आत्म-विस्मृत-सी

हुई जा रही थी। परन्तु वहाँ मुझे सँभालने वाला कौन था ? एक तुम्हीं ऐसी थीं, जो मेरी मनोव्यथा की थोड़ी-सी चिकित्सा कर सकती थीं, शरीर की चहार-दीवारी में कैदी हृदय की उछल-कूद पर थोड़ी-सी देख-भाल रख सकती थीं; पर तुम वहाँ कहाँ थीं ! हृदय में भावों की जो सरिता उमड़ रही थी; तुम्हीं बताओ, उसे मैं तुम्हारे सिवा और किसके सामने प्रकट कर सकती थी ?

बहिन, तुम जानती हो कि मनोभावों को दबाना कैसा गज़ब का दर्द है, जिससे कलेजा रह-रह कर तड़प जाता है। परन्तु तुम्हारे अभाव में मुझे यह दर्द भी सहना पड़ा। आह ! मेरी कितनी प्रबल लालसा थी कि मेरे जीवन-विकास के इस अवसर पर तुम मेरे निकट रहोगी, और मुझे अपनी रस-भरी सलाहें देकर-मुझे अपने हृदय से लगाकर इस विराने देश में भेजोगी। परन्तु यह लालसा मन में ही रह गई। तुम न आईं-न आईं। और आतीं भी कैसे ? जब तुम्हारे 'वे' तुम्हें आने देते, तब न ! परन्तु अरुणा ! इसके लिये मुझे तुमपर मलाल नहीं है। जब तुम अपने गौने के बाद ससुराल से लौटीं थीं, और बार-बार घुल-घुल कर अपने 'उन्हीं' की चर्चा करने लगती थीं, और चर्चा करती-करती एक ठण्ढी साँस लेकर रह जाती थीं, तभी मैं समझ गई थी कि अरुणा अब सर्वदा के लिये एक सर्वथा नूतन व्यक्ति में खो गई है। नूतन व्यक्ति मानों अरुणा का अस्तित्व है, उससे प्रथक् अरुणा एक लघु शून्य है-ऐसा शून्य, जो मूल्य विहीन है। अतएव मैं एक तरह से उसकी कोई भी नहीं रहीं रह गई हूँ। अस्तु—

कल मेरी सुहाग-रात थी। सन्ध्या होते ही जेठानी और ननद मुझे नाइन की सहायता से गुड़िया की नाईं सजाने लगी थीं। तुम जानती हो कि मुझे आभूषणों से कभी प्रेम नहीं रहा। वह जब मेरे शरीर पर लादे जाने लगे, तो मैंने बहुत टाल-मटूल की। इसपर जेठानी जी हँसकर बोलीं-

'मेरी रानी, आभूषण पहिनने से भी कोई इनकार करता है ! इन्हीं की सहायता से नारी का रूप खिलता है और इन्हीं की सहायता से वह बड़ी सरलता से अपने प्राण-धनके नेत्रों में समा जाती है।' अरुणा ! सच कहती हूँ, उनकी यह बात सुनकर मुझे हँसी आगई। कल पहली ही बार मुझे यह बात मालूम हुई कि आभूषणों की मधुर झङ्कार में वशीकरण मन्त्र के शब्द छिपे हुए हैं, जो बड़ी सरलता से एक बहते हुए प्राण को अपनी ओर खींच लेते हैं। फिर मैंने आभूषण धारण करने में टाल-मटूल नहीं की। मुझे सचमुच उनमें आकर्षण की एक अनोखी आभा दिखाई देने लगी।

नौ बजे के बाद मैं-ऊपर दोमञ्जिले पर एक कमरेमें पहुंचाई गई। ऊपर जाते समय मेरे शरीर में एक धीमा कम्पन हो रहा था, दिल बैठा जा रहा था, पैर पहाड़ हो रहे थे; जैसे इतने दिन तक बड़े यत्न से पाली हुई अभिलाषाएँ एक-एक करके मुझे छोड़कर भागी जा रही थीं। परंतु स्त्रियाँ हँसती थीं, इठलाती थीं और मुझे जबर्दस्ती ऊपर खींचे लिए जा रही थीं। कमरे में पहुँचने पर जेठानीजी मुझसे मुसकिराकर बोलीं-'बहूरानी, आज से तुम यहीं सोया करोगी।'

धीरे-धीरे सब स्त्रियाँ बाहर चली गईं। उनकी चुहलोंसे पीछा छूटा, तो थोड़ी देर बाद मेरा जी कुछ शान्त हुआ। अब मैंने एक बार कमरेमें चारों ओर दृष्टि घुमाई। बिजली के चार-चार तेज़ बल्व उसके कोने-कोने को जगर-मगर कर रहे थे। एक ओर बढ़िया पलंग पर दुग्धफेन के समान शुभ्र, स्वच्छ और सुकोमल बिछौना बिछा हुआ था। पास ही एक छोटी-सी मेज़पर मेवे और मिठाईयों से सजी हुई तश्तरियाँ, सुराही, ग्लास, तौलिया आदि सामान रक्खा हुआ था। दोनों ओर ताज़े खिले हुए फूलों के बड़े-बड़े स्तबक भी रक्खे हुए थे, जिनकी भीनी-भीनी गन्ध से सारा कमरा महँक रहा था। परन्तु मैं इस ओर कुछ ध्यान न देकर दीवाल पर

सजी हुई चित्रावली देखने लगी। सहसा मेरी दृष्टि एक बड़े-से रंगीन चित्रपर जाकर अटक गई और मुँहसे, आप-से आप ये शब्द निकल गए 'अरे! ये तो वे हैं!' सम्पूर्ण मुख-मण्डल, विधाताने जैसे साँचे में ढाल दिया हो, प्रशस्त ललाट, कमान के समान खिंची हुई भौंहें, लज्जाके भारसे झुके हुए बड़े-बड़े शरबती नेत्र, उठी हुई लम्बी नाक, मसें भीगती हुई, अरुण कपोल; हृदय पुलक के आवेग से खिल उठा। कह नहीं सकती, मेरे नेत्र कब तक सौन्दर्य की उस मदिरा का पान करते रहे।

बाहर जोरों से जल-वृष्टि हो रही थी। रह-रहकर बिजली चमक जाती थी और बादल गरज उठते थे। मैं खिड़कीमें खड़ी होकर वर्षा की वह बहार देखने लगी। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, आकाश में गहरे काले रंग की चादर तनी दिखाई देती थी। छत और छप्पर पर जल की बड़ी बड़ी बूँदें अर्र-अर्र गिर रही थीं, और नीचे नालियाँ भर्र-भर्र बही जा रही थीं। जल-कण मिश्रित शीतल पवन 'सायँ-सायँ' बह रहा था। उस मधुर कोलाहल के बीच ऐसा जान पड़ता था, जैसे सम्पूर्ण प्रकृति रस-मयी हो रही है और रस ही उसका सार है। हृदय में उमंग की धारा फूट निकली। शरीर में अंगाड़ाइयाँ आने लगीं और ऐसा प्रतीत होने लगा कि इस रस-मयी प्रकृति के द्वार पर मैं अकेली ही खड़ी हूँ और मेरे प्राण किसी को ढूँढ़नेके लिये भीतर-ही भीतर छटपटा रहे हैं।

सहसा मैं चौंक उठी। पीछे मुड़कर देखा, मेरे अरमानोंके देवता पट खोलकर मन्द गतिसे भीतर पधार रहे हैं। उनके शरीर से सुरभि उड़-उड़कर चारों ओर अल्हाद बिखेर रही है। इतने दिन से मन-ही-मन जिनकी पूजा करती आ रही थी, कल उन्हीं को एकान्त सन्नोटे में पाकर मैं एक बारगी सकपका उठी। शरीर आपसे आप सिमट गया और हाथ भर लम्बे आवरणने मुँह को ढँक लिया। मैं भली भाँति उनके दर्शन न कर सकी, जहाँ की तहाँ अचल मूर्ति के समान खड़ी रही। हृदय पर जैसे

किसी ने पत्थर रख दिया और मेरा दम घुटने-सा लगा। श्वास की गति तीव्र हो गई, शरीर में रक्त वेग से दौड़ने लगा, हृदय जोरों से धड़कने लगा। क्या कहूँ अरुणा ! उस समय मेरा बुरा हाल हो रहा था।

वह भी जहाँ के तहाँ खड़े रह गए—पाँच मिनट से कम क्या खड़े रहे होंगे। फिर मन्थर गति से चलकर आसन पर जा बिराजे। अचानक एक मधुर झङ्कार से सन्नाटे से भरा हुआ वह कमरा गूँज उठा—'उषा !' जैसे किसी ने मेरे मन—प्राणोंमें अमृत की प्याली ढाल दी और मैं उन की ओर खिंचने-सी लगी। परन्तु शरीर जहाँ का-तहाँ स्थिर था। फिर उन्होंने वहीं बैठे-बैठे सम्मोहनास्त्र छोड़ा--'उषा, वहाँ ठण्ढ में क्यों खड़ी हो ! यहाँ आकर बैठो।' इस बार ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह एक तीव्र आकर्षण शक्ति से मुझे अपनी ओर खींच रहे हैं। परंतु मेरे पैर धरती से बँधे हुए थे; मैं ज्यों-की-त्यों अचल खड़ी हुई थी। तब जी में आया, कह दूँ कि मैं यहीं बहुत अछी हूँ। परन्तु हृदय में जो आँधी उठ रही थी, उसने कण्ठ को अवरुद्ध कर दिया और वाणी तो किसी अज्ञात शक्ति ने बिलकुल ही मूक—बिलकुल ही जड़ कर दी।

क्षण-भर पश्चत् उन्हों ने जैसे मुझे जगाने की चेष्टा की—'उषा, तुम तो बोलती ही नहीं। नहीं बोलती, तो न बोलो। पर, एक बार मेरी ओर देखो तो सही !' उफ् ! उनके इन शब्दों में कितना जादू था ! मैं जैसे थोड़ी देर के लिये इस संसार से दूर-बहुत दूर एक बड़े ही सुन्दर संसार में भेज दी गई। नहीं जानती कि मेरी चेतनाहीन आँखें उनकी ओर देख सकीं या नहीं; मेरे अचल हाथ चेहरे पर पड़े हुए आवरण को हटाने में समर्थ हुए या नहीं !

वह बड़ी देर तक सर नीचा किए हुए न जाने क्या-क्या सोचते रहे। फिर धीरे से आसन से उठे और 'उषा, जान पड़ता है, मेरे कारण तुम्हें कष्ट हो रहा है, अच्छा जाता हूँ, फिर कभी आऊँगा।' कहते हुए वहाँ से चले

गए। उनके जाते ही मानों मेरी निद्रा भङ्ग-हो गई। उफ़! वह मेरे कितने निकट थे और मैं भी उनके कितने निकट थी। वह मध्य के ज़रा-से व्यवधान को हटाना चाहते थे, पर मेरी दुर्बलता ने कुछ न होने दिया। मैं उनको पाकर भी न पा सकी। मेरी इस दुर्बलताने—मेरी इस उपेक्षा ने उनको कितना मर्माहत किया होगा! वह जा रहे थे, और मैं चुपचाप मूर्ति के समान खड़ी हुई थी। हाय! उनकी पूजा करना तो दूर रहा, मैं उनके चरण पकड़कर यह भी न कह सकी कि मेरी साधनाओं के वरदान! इस सुनसान रात में तुम मुझे अकेली छोड़कर कहाँ जाते हो!'

उनके जाते ही मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मैंने कोई भयङ्कर अपराध कर डाला है। हृदय की ओर झाँककर देखा, तो पता चला, मानों भाग्य के दारूण विधान ने लालसाओं के पुञ्ज पर मिट्टी का तेल उड़ेलकर जलती हुई दियासलाई फेंक दी है। मैं तिलमिलाकर धरती पर बिछी हुई दरी पर गिर पड़ी। पानी अब भी उसी तरह गिर रहा था, बिजली उसी तरह चमक रही थी, बादल उसी तरह गरज रहे थे और मैं पहले के समान ही उस सुनसान कमरे में अकेली निश्चल भावसे पड़ी हुई थी। प्रकृति के उस राग-रंग-में अब मेरे लिये कोई आकर्षण नहीं रह गया था। मन सूना हो गया था, उत्कण्ठा रह-रहकर बल खाती थी, हृदय पर पश्चात्ताप की चोटें पड़ती और आँखें छलछला आती थीं।

इसी दशामें, मैं न जाने, कब तक उसी दरी पर पड़ी रही और कब मुझे नींद ने आ घेरा। परंतु हताश हृदय को शांति न मिली। अब भी वह अविराम गति से अपने देवता के पीछे भटक रहा था। अन्ततः उसका श्रम सफल हुआ। उसने अपने देवता को पकड़ लिया। दोनों एक सुदंर उद्यान में पहुँचे और लता-कुंजों की शीतल छाया में आँख-मिचौनी का खेल खेलने लगे। अहा! वह स्वप्न भी कितना सुन्दर था—इस संसार से भी अधिक सुंदर! परंतु नेत्र बहुत देर तक वह आनंद न लूटने पाए।

पलक मारते वह सुख-स्वप्न भंग हो गया। एक कोमल आघात से सहसा मेरी आँख खुल गई। देखा, तो दिन चढ़ आया है और जेठानी तथा ननद मेरा परिहास कर रहीं हैं। परंतु वह बेचारी क्या जानें कि मेरी सुहाग रात कितनी असम्पूर्ण, कितनी आकुल और कितनी ज्वाला–पूर्ण रही है। आह! यह संसार भी कितना अन्धकार–पूर्ण है!

अरुणा! तुम इस पत्र का उत्तर देने की चेष्टा मत करना। कहीं तुम्हारा पत्र यहाँ वालों के हाथ पड़ गया, तो व्यर्थ ही मेरी किरकिरी होगी। अपनी कुशल के और क्या समाचार दूँ–ऊपर सब कुछ तो लिख चुकी हूं। आशा है, तुम अपने 'उन' सहित सानन्द होगी।

तुम्हारी

उषा

× × ×

(२)

मण्डला

१५ जुलाई, १९३० ई०

प्यारी अरुणा!

कल दस दिन तक ससुराल का सुख भोगने के बाद मैं मायके लौट आई। लौट क्या आई, हृदय पर एक बोझ लाद लाई। सुना है कि नव-युवतियाँ बड़े–बड़े अरमान लेकर ससुराल जाती हैं और जब वहाँ से लौटती हैं, तो एक मीठा दर्द लेकर लौटती हैं। मैं भी बड़े–बड़े अरमान लेकर ससुराल गई थी; पर अब वहाँ से जीवन में एक धीरे–धीरे सुलगनेवाली आग लगाकर और अरमानों को खोकर वापिस आई हूँ। आह! यदि मुझे ससुराल न जाना पड़ता, तो हृदय में बिच्छू के डङ्क-सी चुभनेवाली यह वेदना तो उत्पन्न न होती। कम-से-कम मेरे जीवन की आधार–स्वरूपा

मेरी उद्दाम लालसा तो मेरे पास सुरक्षित रहती। अरुणा! मैंने ससुराल जाकर क्या पाया? सब कुछ और वास्तव में कुछ भी नहीं! बहुत कुछ लेकर वहाँ गई थी, परन्तु सब कुछ खोकर, केवल लालसाओंकी थोड़ीसी चिता-भस्म पल्ले बाँधकर रोती हुई लौट आई हूँ।

मेरी अरुणा! मैं तुम्हें बतलाऊँ कि ससुराल में मेरे जीवन के वह सब से बहुमूल्य दस दिन कैसे व्यतीत हुए। दिन तो किसी तरह कट भी जाता था, परन्तु रात पहाड़ हो जाती थी। उसी सुनसान कमरे में रात-भर अकेली पड़ी रहती थी, कठोर प्रतीक्षा की व्याकुलता एक-एक मिनट को युगसे भी भारी बना देती थी, कोमल उत्कण्ठा दारुण क्षोभ के आघात से रह–रह–कर बिलबिला उठती थी और आशा–मेरी दीन आशा तूफ़ानी हृदय में बार–बार अपने दीपक को जलाने की चेष्टा करती थी। परन्तु मेरे देवता रूठ गए थे–बिलकुल रुठ गए थे। उन्होंने एक क्षण के लिये भी उस सूने मन्दिर में पधारने की कृपा नहीं की। जब मन-प्राण बिलकुल विह्वल हो जाते, तब उसी चित्र–पटके सामने जाकर खड़ी हो जाती और कहती–'कैसे विश्वास करूं कि तुम्हारे इस कोमल शरीर में इतना निर्मोही हृदय छिपा हुआ है।'

तुम्हीं कहो अरुणा! भक्त की निर्बलता, विवशता या त्रुटि पर देवता का इस प्रकार रुठ जाना कहाँ तक उचित है? क्या कहूँ, कैसे कहूँ कि मेरे कान उनकी सुधामयी वाणी सुनने के लिये कितने बेचैन रहते थे, मेरे नेत्र उनके दर्शनार्थ कितने प्यासे रहते थे और हृदय उनको अपने निकट पानेके लिये कितना अधीर रहता था! पर, यह सब सुख मेरे भाग्य में नहीं बदा था। आह! यदि उस दिन अपने शरीर को अपने अधिकार में रख सकती, तो....। पर, उन्हें तो सोचना चाहिए था कि इस बेचारी को न जाने किस शक्ति ने निश्चेष्ट कर दिया है, यह दया के योग्य हो रही है या दण्ड के, और मेरी उपेक्षा से इसके हृदय पर कैसी–क्या

बीतेगी। अरुणा! तुम मानो, चाहे न मानो, पुरुष नारी की विवशता को नहीं समझता—नहीं समझता और समझना भी नहीं चाहता। यदि वह उस दिन क्षण-भर के लिये भी मेरी अवस्था समझने की चेष्टा करते, तो इस प्रकार न रूठ जाते और न इस प्रकार मान ही कर बैठते।

उस दिन जब भाई साहब मुझे लेने जबलपुर पहुँचे, तब टाँगे पर सवार होने के पहले मैं अपने कपड़े-लत्ते लेने के विचार से शयनागार में गई। उसी समय वह भी न जानें, कहाँ से वहाँ आ-पहुंचे। उनको देखते ही मेरे भीतर फिर आँधी उमड़ उठी। जी में आया, कह दूँ कि मेरी ओर मत देखो, और न मुझ से बोलो। यहाँ आने की आवश्यकता नहीं है, और न कठोर-हृदय को इस मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार ही है।' परन्तु जब तक मैं बोलने के लिये प्रस्तुत हुई, तब तक क्या देखती हूँ कि मेरी जिह्वा कुण्ठित हो गई है, नेत्र किसी बोझ से नीचे की ओर झुके जा रहे हैं और मेरे तथा उनके बीच में घूँघट की बाधा अभिशाप के रुप में विद्यमान है। मेरा हृदय भर आया और आँखें सजल हो उठीं।

वह मेरे कानों में वही रस-धारा उडे़लते हुए बोले—'उषा, जा रही हो?'

मुझे जान पड़ा, जैसे उनका स्वर काँप रहा है और वह उदासी में डूबे जा रहे हैं। हृदय बोलने के लिये व्याकुल हो उठा। उससे एक ध्वनि उत्थित हुई—'और क्या करूँ—यहाँ कौन मेरा अपना बैठा हुआ है?' परन्तु होंठों ने हिलने तक का नाम न लिया और जिह्वा तो पहले ही जड़ हो रही थी।

मुझे मौन देख, उन्होंने पुनः कहा—'आह! तुम बड़ी कठोर हो उषा! जा रही हो, फिर भी मुझ से दो बातें नहीं करतीं! अच्छा, जाओ। हो सके तो, कभी-कभी एकाध पत्र भेज दिया करना।'

ये शब्द उन्होंने बहुत धीरे, अटक-अटक कर कहे थे, मानो उनका

गला रुँध रहा था। और वह इसके बाद ही वहाँ से धीरे–धीरे चले गए जैसे किसी सोच विचार या चिन्ता के भार से दबे हुए जा रहे हों। उनके शब्दों की ध्वनि और क्रियासे मैं उनके मनोभाव का तनिक भी अनुभव नकर सकी। केवल ठगी–सी खड़ी रह गई। सोचने लगी–'आह! ये कैसे आदमी हैं, जो दस–पाँच मिनट भी नहीं ठहर सकते। केवल मेरी कण्ठ–ध्वनि सुनना चाहते हैं, और मेरे हृदय से धारा बाँध–बाँधकर जो उद्गार निकल रहे हैं, उनकी ओर ध्यान भी नहीं देते।'

इसी समय भाई साहब ने नीचे से पुकारा–'उषा ! जल्दी करो। गाड़ी का समय हो रहा है।'

मैं झटपट कपड़े-लत्ते सँभालकर, एक बार फिर उस चित्र-पट के सामने खड़ी हो गई। लगभग पाँच मिनट तक हृदय-पटल पर उमड़ी उस सुहावनी छवि को निहारती रही। हृदय भर आया, गला रुँध गया, नेत्रों ने टप-टप करके दो मोती उस चित्र–फलक पर निछावर कर दिए। मुँह से आप-से-आप ये शब्द निकल पड़े–' आह ! तुम मेरे हो, फिर भी इतने निर्मोही और कठोर हो और जादू तो बिलकुल ही नहीं जानते। जानते होते, तो मेरे हृदय का कम्पन मिट जाता, मेरी आँखें बोझके भार से इस प्रकार न झुकी रहतीं; जिह्वा भी थोड़ा--बहुत बोलने की चेष्टा करती। और तब मैं यहाँ से इस प्रकार शून्य–मना होकर मायके न लौटती।' इसके बाद मैं उस कमरे पर एक दृष्टि डाल अपने बिलखते हुए संसार को संभालती–संभालती नीचे उतर आई।

अरुणा ! यद्यपि अब मैं फिर स्वतंत्रा के वायु-मण्डल में आ पहुँची हूँ, और चाहूँ, तो फिर तितली के समान फुदक सकती हूँ; परन्तु हृदय पर जो चट्टान रख लाई हूँ, जान पड़ता है, वह अब जीवन को हलका न होने देगी। अब कुछ भी अच्छा मालूम नहीं होता। जान पड़ता है, जैसे, उस दिन की रस-पूर्ण प्रकृति को निराशा की अँधियारी ने ढँक लिया है,

और मैं सब कुछ खोकर उसके क्रोड़ में अकेली–बिलकुल अकेली भटक रही हूँ। फिर भी मुझे शान्ति प्राप्त नहीं होती। भटकती-भटकती चौंक उठती हूँ और ऐसा अनुमान होने लगता है, जैसे मैं अकेली उसी सुनसान कमरे में पड़ी हुई हूँ और बाहर से कोई पुकार–पुकार कर कह रहा है– 'भाग-भाग! यहाँ तेरे लिये स्थान नहीं है अभागिनी कहीं की!'

अरुणा! मेरे हृदय में उसी दिन से रात-दिन एक खटका-सा लगा रहता है, मानो मैं उन्हें प्राप्त नहीं कर सकी, और कर भी नहीं सकती। भगवान् ने उनको जैसा रूप दिया है, उसे देखते हुए तो यह कल्पना भी पाप-पूर्ण जान पड़ती है कि उनका आचरण ठीक नहीं है, या ठीक नहीं रह सकता। मैं तो अधिक-से-अधिक यही कह सकती हूँ कि या तो वह बड़े स्वभिमानी हैं, या बहुत जल्दी रूठ जाते हैं, या फिर मैं ही उनको पसन्द नहीं आई। पिछली बात ही मुझे सत्य जान पड़ती है। यदि यह बात सत्य न होती, तो क्या वह मेरी इतनी उपेक्षा करते? हाय! तब तो आभूषणों की सुंदरता, उनकी चमक-दमक और मधुर झंकार-ध्वनि मेरे किसी काम न आई। जेठानीजी के कथन में कुछ सार न निकला। जो हो, मैंने सब आभूषण उतार कर फेंक दिए हैं। जब उनको पसन्द ही नहीं आई, तब आभूषण पहिनने से क्या होगा? इससे तो निरलङ्कार ही भली।

चलते समय उन्होंने कभी–कभी एकाध पत्र लिखने की आज्ञा दी थी। स्थिति जैसी कुछ रही, उसका परिचय मैंने तुम्हें दे ही दिया है। अब तुम्हीं कहो, उनको पत्र में क्या लिखूँ और ढेर–के–ढेर शब्द लिखने का ही साहस कैसे करूँ?

इन दिनों ये ही मेरे कुशल-समाचार हैं। अपने 'उन' से मेरी नमस्ते कहा देना। और हाँ, अब मेरे पत्रों के उत्तर भी ज़रा विस्तृत रूप से देना। सम्भव है, तुम्हारी बातों से मैं लाभ उठा सकूँ। आशा है, तुम सकुशल होगी।

तुम्हारी ही–**उषा**

(१)

सिवनी-छपारा
२० जुलाई, १९३० ई०

मेरी उषा !

तुम्हारे दोनों पत्र यथा समय मिल गए थे। गौने का निमंत्रण भी मिला था। क्या कहूँ उषा, मेरी बड़ी अभिलाषा थी कि तुम्हारे गौने पर मैं मण्डला पहुँचती और तुम्हें अपने हृदय से लगाकर ही विदा करती। पर, न पहुँच सकी। मैंने बहुत चेष्टा की, पर वह मुझे छोड़ने को राजी ही न हुए; उल्टे मेरे आग्रह पर रुष्ट हो गए और दो दिन तक मुँह फुलाए रहे। जब बहुत मनाया, तब कहीं राह पर आए। क्या कहूँ बहिन, नारी का जीवन नारी के लिये नहीं होता। वह दिन दूर नहीं है, जब तुम्हारा जीवन भी अपने 'उन्हीं' के लिये हो जायगा। तुम भी उन्हीं के स्वर में बोलोगी, उन्हीं के नेत्रों में देखोगी, उन्हीं के लिये खाओगी-पियोगी, उन्हीं के लिये पहनोगी-ओढ़ोगी; अधिक क्या, उन्हीं की इच्छा तुम्हारी इच्छा हो जायगी। यद्यपि यह सच है कि मेरा व्यक्तित्व उन्हीं के व्यक्तित्व में समा गया है, पर मेरे हृदय के एक कोने में तुम बराबर बैठी रहती हो या नहीं; यह अपने ही हृदय में देख लो। अस्तु—

तुम्हारे हताश प्रणय का वर्णन पढ़कर मुझे तुम पर बहुत दया आई। तुमने केवल उसकी बाहरी रूप-रेखा ही देखी, अन्तस्तल देखने की चेष्टा नहीं की। तुमने जितनी योग्यता अपने पत्र लिखने में खर्च की है, यदि उसकी आधी, भी, वास्तविकता समझने में लगाई होती, तो तुम्हारे हृदय में वह आँधियाँ कदापि न उठतीं, जिनकी अनुभूति से तुम बार-बार उद्विग्न हो जाती हो। सत्य तो यह है कि तुम्हारे पत्रों में तुम्हारा सौभाग्य खूब जगमगा रहा है और मालूम होता है कि तुम्हें ससुराल में इतनी अधिक प्राप्ति हुई है, जितनी

बिरली ही सौभाग्यवती स्त्रियों को प्राप्त हुई होगी।

उषा ! आग तुम्हारे हृदय में क्या लगी है, तुम्हारे उनके हृदय में लगी है। सच कहती हूँ, खून उन्हीं के अरमानों का हुआ है—कुछ तो तुम्हारी दुर्बलता से, और उससे अधिक उन्हीं की दुर्बलता से। अब हज़रत रात में बिछौने पर कलपते और छत की कड़ियाँ गिनते होंगे तथा ठण्ढी साँसों के साथ तुम्हारा नाम लेकर अपनी शान्ति की होली जलाते होंगे। आज तुम मेरी इन बातों को शायद कल्पना–मात्र समझोगी, पर एक दिन तुम्हें मालूम हो जायगा कि मेरी यह कल्पना सत्य से परे नहीं है।

वास्तव में उषा वह तुम्हें अच्छी तरह प्राप्त हो गए हैं, और तुम्हें छोड़-कर कहीं भटक भी नहीं सकते। यदि तुम दोनों की दुर्बलता सीमा से आगे न निकल गई होती, तो आज तुम दोनों को इस प्रकार उद्विग्नता की अग्नि में न झुलसना पड़ता। दुर्बलता से मेरा मतलब उस लज्जा से है, जो ऐसे अवसर पर बहुधा दोनों पक्षों को उत्पीड़ित किया करती है। यदि उस समय तुमने एक अक्षर का भी उच्चारण कर दिया होता, तो शायद तुम्हारे अरमान मृतप्राय न होते, पल्लवित और पुष्पित ही होते। पर नहीं, तुमने उस समय नारी-सुलभ लज्जा का दामन पकड़कर उचित ही किया और उनपर इसका प्रभाव भी अच्छा पड़ेगा।

उषा ! तुमने अपने पत्रों में उनकी गति विधि का जो उल्लेख किया है, उससे मुझे अनुभव होता है कि उनका मन तुम में बुरी तरह उलझ गया है। पर, हज़रत बड़े ही भावुक, लज्जाशील और कोमल स्वभाव के जान पड़ते हैं। और इन्हीं कारणों से भावावेश में होने पर भी उनका हृदय खुल नहीं सका। न वह कठोरता–पूर्वक तुम्हारी लज्जा का हरण कर सके, और न रसीली बातों द्वारा तुम्हारे हृदय को ही लुब्ध कर सके। मेरा तो यह विश्वास-सा हो रहा है कि भविष्य में तुम्हें, उनके इन गुणों द्वारा अनन्तसुख–लाभ होगा। बहिन ! मेरा तो यही कहना है कि चञ्चलता के फेर में पड़कर अपने हृदय

को इतना छोटा मत होने दो। उसे ज़रा ऊँचा उठाओ, और अपने देवता को पहिचानने के लिये थोड़ी-सी चेष्टा करो। जिस समय तुम उन को पहिचान लोगी तुम्हारा मन आप-से-आप कह उठेगा—'अरे! यह तो मेरे हैं और मुझे प्राप्त हो चुके हैं।'

यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लूँ कि उन्होंने तुम्हें पसन्द नहीं किया। तो मैं तुमसे यह पूछूँगी कि भगवान ने तुम्हें यह देव-कन्या जैसा शरीर किस लिये दिया है? तुम रूप का यह विशाल वैभव लेकर यहाँ किस लिये आई हो? तुम्हारे इस ताज़े खिले हुए कमल जैसे मुखड़े का, मृगी जैसे विशाल भोले-भाले नेत्रोंका, वीणा-ध्वनि जैसे मधुर कण्ठ—स्वर का और रोम-रोम से लावण्य विकीर्ण करनेवाले इस दिव्य शरीर का क्या होगा? अब की बार जब मिलन हो, तब नारी की मधुर छलना का जाल बिछा देना। फिर देखना, श्रीमान् कितनी बुरी तरह फँसते हैं। लाख फटफटाएँगे, फिर भी निकलकर न भाग सकेंगे—मेरी बात गाँठ में बाँध लो।

बस, अपने हृदय का काँटा निकालकर दूर फेंक दो और बराबर तितली की नाईं फुदको, तथा कोकिल की नाईं कूको। चिन्ता की कोई बात नहीं है। मैं भी यहाँ बैठी-बैठी जंत्र-मंत्र का कुछ प्रयोग करूँगी। भरोसा तो यही है कि वह तुम्हारे हो जायँगे।

आशा है, तुम प्रसन्न होगी। चाची से मेरा प्रणाम कह देना; और ख़बरदार, अब अपने को घात-प्रतिघात के बीच में न जाने देना।

तुम्हारी ही—**अरुणा,**

× × ×

(४)

सागर
१० फ़रवरी, १९३१ ई०

प्यारी अरुणा!

छः—सात महीने बाद, मैं फिर ससुराल तो क्या, पति-गृह में आई हूँ, और

कई दिन बाद तुम्हें यह पत्र लिख रही हूँ। इच्छा तो तुरन्त ही लिखने की थी; परन्तु इस बार तो उन्होंने ग़ज़ब ही कर दिया। इस तरह पीछे पड़े कि पत्र तक लिखने के लिये अवकाश न निकाल सकी। आज जब मित्र लोग उनको ज़बर्दस्ती क्लब घसीट ले गए, तब आठ बजे रात को यह पत्र लिख रही हूँ।

अरुणा! मैं तुम्हारी बुद्धि का लोहा मानती हूँ। तुमने उनके विषय में जो अनुमान किया था, वही ठीक निकला। इस बार उन्होंने तुम्हारे अनुमान को सत्य भी कर दिखाया। तुम पूछोगी, किस प्रकार? अच्छा तो, सुनो।

उसी दिन के समान इस बार भी मैं खिड़की की चौखट पकड़े हुए बाहर की ओर झाँक रही थी। निर्मल आकाश में पूर्णिमा का चाँद खिल रहा था, और हँस-हँसकर दूध की धारा बरसा रहा था। प्रकृति उस धारा में निस्तब्ध भाव से स्नान कर रही थी। हिम के समान शीतल वायु मेरे शरीर को वेध रही थी। मैं खिड़की बन्द कर पलङ्ग पर जा बैठी।

सहसा मुझे प्रतीत हुआ, मानों मेरे चारों ओर चिंता के बादल उठ रहे हैं। मेरा संसार एक दिन बिसूरते-बिसूरते थक कर सो गया था। इस बार वह एकबारगी हाहाकार करके जाग उठा। उद्दाम लालसा जैसे ज़बर्दस्ती हृदय को फोड़कर बाहर निकलने की चेष्टा करने लगी। प्राण रह-रह कर चीखने लगे 'मेरे देवता–मेरे देवता!' परंतु प्रतीक्षा ने मुझे अधिक देर तक व्याकुल न होने दिया। वह एक मतवाली चाल से आकार मेरे सामने खड़े हो गए। मैं सँभलने भी न पाई थी कि उन्होंने मेरे कानों में थोड़-सी मधुरता निचोड़ दी–'उषा!'

मुझे बोध हुआ, मानों इस बार उनकी वाणी में कम्पन नहीं है, उल्लास भर रहा है। तुम्हारी सम्मति याद हो आई। सोचा, यही अवसर है, जब मैं अपने देवता को रिझा सकती हूँ। कहीं ऐसा न हो कि फिर भाग खड़े हों और लज्जा के पर्दे में जा छिपें। परंतु मुश्किल यह आ पड़ी कि करूँ, तो क्या

करूँ ! किसी तरह शरीर के कोने-कोने से साहस बटोरा और कण्ठ के अवरोध को हटाकर वाणी को जागृत किया; फिर भी वह काँपती-काँपती केवल इतना ही बोल सकी–' जी !...'

'यह क्या है ?' कहकर उन्होंने मेरे सामने एक लिफ़ाफ़ा फेंक दिया। हृदय धड़क उठा। मैंने काँपते हुए हाथों से उसे हाथ में लिया और बड़ी कठिनाई से उसमें रक्खे हुए पत्र बाहर निकाले। हाय-हाय ! ये वही दोनों पत्र थे, जो मैंने उनके विषय में तुम्हें लिखे थे। मैं मारे लज्जा के धरती में गड़–सी गई। तुम बड़ी कुटिल हो अरुणा ! तुम्हारे इस नटखटपने पर मुझे बड़ा क्रोध आया, यदि मैं ऐसा जानती कि तुम वहाँ बैठी-बैठी मेरे लिये यह दूती–कर्य करोगी, उन पत्रों का ऐसा उपयोग करोगी, तो मैं उनमें अपनी व्यथा अंकित करने की चेष्टा ही क्यों करती ! क्या यही तुम्हारा जंत्र-मंत्र है ! छिः ! उन पत्रों को पढ़कर उन्होंने मेरे विषय में क्या-क्या बातें न सोची होंगी ! तुम्हारी इस शैतानी से मैं अपने आप उनके सामने झेंप जाती हूँ।

मैंने सोचा कि दोनों पत्र अपनी जेब में छिपा लूँ। परन्तु वह मेरा विचार ताड़ गए। चट् से पत्र छीनकर बोले–' उषा ! इन पत्रों पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। इनमें मेरी विपुल सम्मत्ति का बीजक छिपा हुआ है। इन्हें मेरे पास ही रहने दो।'

इसके बाद ही उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। समस्त शरीर में बिजली की एक धारा सी दौड़ गई। मैं हाथ छुड़ाने की कोशिश करने लगी और वह मेरा घूँघट हटाने लगे। मैंने बहुत कहा–' नहीं-नहीं, मुझे छोड़ दो !'

पर, वह क्यों मानने चले, बोले–'नहीं उषा, अब यह नहीं हो सकता। मैं लज्जा पर विजय प्राप्त कर चुका हूँ और अब तुम्हें भी उस पर विजय प्राप्त करनी पड़ेगी। नहीं तो, तुम फिर अपनी सखियों के सामने मेरा रोना रोती फिरोगी।'

शिशिर की वह काँपती हुई रात और यह द्वन्द्व ! मैं पसीने–पसीने हुई

जा रही थी, शरीर ढीला हुआ जा रहा था और वह मुझे अपनी भुजाओं में बाँध रहे थे।

बस, आज यहीं तक। तुम अपनी प्रसन्नता के समाचार लिखना।

तुम्हारी—

उषा,

कुरबानी

कल बकरीद है।

दारोगा अब्बास अली आज ही देहात से लौटे हैं। वह अपने बंगले के बरामदे में एक पुरानी-सी आराम-कुर्सी पर लेटे हुये थे। बगल में एक स्टूल पर हुक्का रक्खा हुआ था। उसकी सटक उनके हाथ में थी। पर, दारोगा साहब एकदम गुमसुम थे। चेहरे के उतार चढ़ाव से मालूम होता था, मानों वह किसी गहरी चिन्ता में डूबे हुए हैं, मन में जैसे विचारों का तूफान उठ रहा है।

एकदम हुक्का गुड़गुड़ा उठा। पर, चिल्म खामोश रही, उसने धुआँ नहीं छोड़ा। 'ओफ़! ज़रासी बात पर सोच विचार करते कितनी देर हो गई। हुक्का तक ठण्ठा हो गया।' कहते हुए दारोगा साहबने अपने चारों तरफ़ नज़र घुमाई।

'साला एक ही पाजी नौकर है। कम्बख्त घड़ी भर भी यहाँ नहीं बैठ सकता।' बड़बड़ाते हुए दारोगा साहब कर्कश स्वरमें पुकार उठे—

' छोटा । अरे छोटा ! '

' जी हुज़ूर ' की एक आवाज़ आई और इसके बाद ही अधेड़ उमर का एक आदमी मैले-कुचैले कपड़े पहने दारोग़ा साहब के सामने आकर खड़ा हो गया- सूखा मुँह, लटका हुआ सर, मानों कोई ग़रीब भिकारी हो ।

' बेवक़ूफ़ ! जब देखो, तब लापरवाही ! काम-काज की कुछ फ़िक्र ही नहीं रखता । जा, चिलम गरम करला ।' दारोग़ा साहबने ग़रीब छोटा को हुक्म दिया ।

छोटा चिलम लेकर चलने लगा, तो दारोग़ा साहबने उसे रोककर कहा ' और सुन ! रहमत को जल्दी बुला ला । कहना, दारोग़ा साहबने फ़ौरन् बुलाया है । बड़ा जरूरी काम है ' ।

छोटा चिलम गरम कर और हुक्के पर रखकर रहमत को बुलाने चला गया । दारोग़ा साहब एक क्षण हुक्के को गुड़गुड़ाते और दूसरे क्षण मुँह से धुएँ के गुब्बारे छोड़ते हुए फिर सोच-विचार में डूब गए ।

पांच मिनट बाद ही रहमतबेग आता दिखाई दिया । दारोग़ा साहब इस प्रकार कुर्सी पर लुढ़क गए, जैसे संसार भर के बादशाह हों और दीन-दुनिया की फ़िक्र से बिलकुल दूर । रहमत उनको बाक़ायदे सलाम कर एक तरफ़ खड़ा हो गया—बुत के समान, रङ्ग आबनूस को मात करने वाला, शकल बिलकुल कोलों जैसी; पर कपड़े साफ़ सुथरे ।

' रहमत, कल बक़रीद है । '

' जी हुज़ूर ! '

' तुमने क़ुरबानी के लिये कुछ इन्तेज़ाम किया है ? '

' मैं थोड़ी-सी तनख्वाह पानेवाला ग़रीब सिपाही, भला मैं क़ुरबानी के लिये क्या इन्तेज़ाम करूँगा हुज़ूर ! ' रहमत ने इस ढङ्ग से कहा, जैसे वह सचमुच एक अनजान, भोला-भाला और सीधा आदमी हो ।

दारोग़ा साहब के होंठें पर मुसकिराहट आगई । बोले-' तुमने मेरा

मतलब नहीं समझा रहमत! मैं पूछ रहा हूँ, तुमने मेरे लिये कुछ इन्तेज़ाम किया है?'

'ख़ता माफ़ हो! मुझे मालूम नहीं था कि हुजूर कुरबानी करेंगे। मालूम होता, तो यह गुलाम आनन-फ़ानन एक तो क्या, पचास कुरबानियों का बन्दोबस्त कर डालता। आज ही देहात से लौटना हुआ है, हुजूर ने इशारा-भर कर दिया होता, तो वह-वह बछड़े-वह-वह गाएँ खदेड़ लाता कि देखने वालों की तबीयत तर हो जाती। इस देहात में किसकी मजाल है, जो हुजूर के नाम पर इस कारे-सबाब के लिये, रहमतबेग के सामने 'नहीं' लफ़्ज़ कह तो सके।' कहते-कहते रहमत का माथा अभिमान के ज़ोर से आप ही आप ऊँचा हो गया।

रहमत का दावा कुछ झूठ नहीं था; क्योंकि वह कोई मामूली आदमी तो था नहीं। अव्वल तो वह पुलिस कॉन्स्टेबुल था, दोयम दारोग़ा साहब का अर्दली। दारोग़ा साहब अपने देहात में, नवाब साहब के प्यारे बेटे से कम रुतबा नहीं रखते। फिर उनके अर्दली का तो कहना ही क्या; अपने मालिक की खिदमत के लिये-उनकी खुशी की खातिर वह सब कुछ कर सकता है, कर क्या सकता है, करने का उसे अख्तियार हासिल रहता है। उसके इस कर्तव्य-पालन में दखल देने का किसी को हक़ नहीं है। और अगर कोई ऐसी बेजा हरकत करेगा ही, तो उस पर फ़ौरन्-और ज़रुर-ज़रुर कयामत बरपा हो जायगी। फिर आदमी की तो बिसात ही क्या, खास अल्लाह मियाँ भी चाहें, तो उसे नहीं बचा सकते-नहीं बचा सकते। एक मर्तबा नहीं, सैकेड़ों मर्तबा यह बात कानूनन् साबित हो चुकी है। खैर।

परन्तु दारोग़ा साहब रहमत की डींग सुनकर शायद खुश नहीं हुए। कुछ नीरस-स्वर में बोले 'कैसे अर्दली हो भई! मैंने कहा होता, तब तो तुम सब कुछ कर डालते, और मैंने नहीं कहा, तो कुछ भी नहीं किया। क्या खूब! मैं कहता कहां से, मुझे तो मरने की भी फ़ुरसत न थी। तहकीक़ात पर तहक़ी-

क़ातिल–क़त्ल, डाका, नक़ब, ज़िना–बिल्जब्र, सभी कम्बख़्त एकबारगी ही तो फटड़े। ऐसी हालत में मैं क्या क्या याद रखता? पर तुम तो अपने दिमाग़ से कुछ काम लेते। गाएँ गई भाड़ में–एकाध अच्छा–सा बकरा ही तलाश कर लेते। अब यहाँ पैसे खर्च होंगे या नहीं? और आफ़त यह कि जल्दी जल्दी में ड्यौढ़े दूने दाम दो, फिर भी चीज़ मन की न मिले।'

'अब तो ग़लती हो गई हुज़ूर!' कहकर रहमत ने इस तरह सर लटकाया, इस तरह मुँह बनाया, जैसे उसने सचमुच कोई बड़ी ग़लती कर डाली हो और जिस पर उसे दिली सदमा हो रहा हो। फिर बोला–' पर, कुछ हर्ज नहीं हुज़ूर! अब भी मेरी नज़रों में एक अच्छा बकरा है–देखने में ठीक मस्त बछड़े के समान। आप देखेंगे तो तबीयत खुश हो जायगी। सस्ता भी खूब मिल जायगा!'

दारोग़ा साहब का चेहरा खिल उठा, आँखें चमक उठीं। वह उठकर बैठ गए, बोले–' अच्छा! किस के पास है वह बकरा? कितने तक मिल जायगा?'

' छोटे मुंशी आरज़ू साहब हैं न, उन्हीं के पास है वह बकरा। बकरा क्या है एक चीज़ है। बाज़ार में पन्द्रह बीस रुपए से कम में न मिलेगा। पर, आप उन्हे जो दे देंगे, बेचारे वहीं मञ्जूर कर लेंगे।' रहमत ने जबाब दिया।

' तब ठीक है। तुम जाकर आरज़ू को बुला लाओ। सौदा तय हो जावे।'

दारोग़ा साहब का हुक्म पाते ही रहमत थाने में जा पहुँचा। उस समय आरज़ू डेक्स पर झुका हुआ था। उसकी क़लम सपाटे से रोज़नामाचे पर दौड़ रही थी। रहमत एकदम हुकूमत भरी आवाज़ में बोला–' मुंशीजी, आपको दारोग़ा साहब याद फ़रमा रहे हैं। अभी बुलाया है।'

दारोग़ा साहब के अर्दली की आवाज़ सुनकर बेचारा मुंशी चौंक उठा। रोज़नामचा एक तरफ़ सरकाकर उसने सर ऊपर उठाया, एक नज़र रहमत के चेहरे पर डाली, फिर उससे पूछा–रहमत, हुज़ूर ने मुझे किस लिये

इतनी जल्दी बुलाया है ?'

रहमत मुसकिराया, फिर बोला– 'वहीं चलकर सुन लेना।'

आरज़ू घबरा उठा। घबराने की बात ही थी। दारोग़ा साहबने एकाएक बुलाया है। और सो भी अपने बँगले पर। उन्होंने और तो कभी इस तरह नहीं बुलाया, आज कौन-सा ऐसा संगीन मामला आ पड़ा, जो उन्होंने मुझे इस तरह बुला भेजा ? आदि बातें सोचता हुआ आरज़ू उठकर खड़ा हो गया। पैर उठाते उठाते उसने रहमत से फिर दरयाफ्त किया–'आख़िर भाई, बतलाओ तो, मामला क्या है ?'

इधर-उधर नज़र दौड़ाकर रहमत ने जवाब दिया– 'मुंशीजी, क्या बतलाऊँ, आप तो जानते ही हैं, यह साला दारोग़ा नहीं है, पाजी है, बदमाश है, शैतान है। लोगों को परेशान करने के लिये उसके दिमाग़ में न जाने कितने मसाले भरे पड़े हैं। उसकी....'

आरज़ू और भी घबरा उठा, बोला– 'भाई, मैंने तो कोई कुसूर नहीं किया। अपने काम से काम रखता हूँ। किसी....'

'सुनिए तो' रहमत ने कहा– 'आपका यह ख़याल ग़लत है। उसकी नज़र आप के बकरे पर पड़ गई है। वह उसे पसन्द आ गया है। कल बक़रीद है। वह सोच रहा है, अगर यह बकरा मिल जाय, तो....'

आरज़ू का मुँह उतर गया। बेचारा भर्राए हुए गले से बोला–' आह-! यह तो बड़ी मुसीबत का सामना है। रहमत, तुम तो मेरे पड़ौसी हो; तुम्हें खूब मालूम है कि मेरा....'

रहमत ने बात काटकर कहा– 'मुंशीजी, आप यह न कहें, मुझसे आप की कोई बात छिपी थोड़े ही है। मैंने उस बदमाश से कई बार कहा कि आप मुंशीजी पर रहम कीजिए। गाँव में बकरों की कमी नहीं है। मैं आपको अच्छे-से-अच्छा बकरा ला दूँगा। पर, वह माने, तब न ! और ज्यादह कह भी न सका, आफ़ीसरी और मातहती का वास्ता ठहरा। ऐसी

ही जगह तो यह ताबेदारी खटक जाती है। ' ये बातें रहमत ने इस लहजे में कहीं, गोया उसके दिल में हमदर्दी का दरिया मौजें मार रहा हो।

आरज़ू दारोग़ा साहब के सामने जाकर खड़ा हो गया। उसका जी घबरा रहा था, माथा घूम रहा था, गला सूखा जा रहा था, आँखें डबडबा रही थीं और वह दारोग़ा साहब की ओर इस तरह ताक रही थीं, जैसे उनके हृदय में छिपी हुई दया को ढूँढ़ रही हों। जब दारोग़ा साहब ने उससे पूछा– ' मुंशीजी, तुम अपना बकरा बेचोगे ?' तो वह एक बारगी चीख़ उठा– ' हुज़ूर, ! रहम-रहम ! '

दारोग़ा साहबने अचरज-भरी आँखों से आरज़ू को देखा और फिर पूंछा– ' इसके मानी ? '

आरज़ू ने हाथ जोड़कर जवाब दिया– ' हुज़ूर, मैं मुसीबतों का मारा हुआ एक बद–नसीब आदमी हूँ। आज तक मेरे आठ बच्चे फ़ौत हो चुके है। खुदा के फ़ज़लो-करम से केवल यही एक बच्चा बच रहा है, जो इस बूढ़े की बाक़ी जिन्दगी का सहारा है। यह बकरा मेरे इस बच्चे का प्यारा खिलौना है। उसने इस बकरे पर ऐसी मुहब्बत की है कि कोई अपने मा-जाए भाई पर भी न करेगा, ज़ादह क्या कहूँ, उसने अपने मुँह का निवाला खिलाकर इस बकरे को पाला है। मेरी आप से यही अर्ज़ है कि आप मेरे बच्चे पर रहम करें, उससे उसका प्यारा खिलौना न छीनें, नहीं तो वह रो-रोकर घर सर पर उठा लेगा और कलप–कलप कर अपनी जान खो देगा।'

आरज़ू की आँखों से चन्द आँसुओं की लड़ियाँ निकलीं और उसकी खिचड़ी दाढ़ी को चूमती हुई पत्थर के कड़े फ़र्श पर जा गिरीं और गिरते ही छार-छार हो गईं। पर, दारोग़ा साहब हो-हो कर हँस पड़े। बोले– ' वाह मुंशीजी वाह ! तुम भी खूब मुसलमान हो ! मैं तुम से बकरा मुफ्त नहीं लेता, फिर भी तुम उसे इस कारे–सवाब के लिये देना मंजूर नहीं करते। '

आरज़ू ने आँखें पोंछते हुए कहा– ‘ हुजूर, कारे–सबाब के लिये तो मैं अपनी जान तक दे सकता हूँ; पर, उस नादान बच्चे का दिल कैसे तोड़ूं जो मेरे उजड़े हुए घर का चिराग़ और बूढ़े आदमियों की आँखों का उजाला है। जब मेरा अहमद अपने खिलौने को खोकर फूट-फूट कर रोएगा, तो मैं उसे क्या कह कर समझाऊँगा कि बेटा, तुम्हारा खिलौना कारे-सबाब पर क़ुरबान कर दिया गया है और इसके लिये तुम्हें रोना नहीं, हँसना चाहिए। हुज़ूर भी बाल-बच्चे वाले हैं, मेरे नन्हें-से बच्चे के सदमे का ख़याल करें–उस पर तरस खाएँ। आप का यह एहसान क़ब्र में भी न भूलूँगा। ’

पर, दरोगा साहब तो दारोगा साहब ही थे। बिगड़ उठे– ‘ तुम आदमी हो या अहमक़ ? बच्चे तो मिट्टी के खिलौने के लिये भी तीन-तूफ़ान मचाते हैं। पर, जब वह उन्हीं के हाथ से गिरकर टूट-फूट जाता है, तो थोड़ी देर चिल्ल-पों मचाकर हमेशाके लिये उसकी याद भूल जाते हैं। बच्चों के चीख़ने-चिल्लाने का मतलब ही क्या ? जब तुम्हारा अहमद बकरे के लिये रोए, तो उसे थोड़ी सी मिठाई देकर समझा लेना। फिर भी न मानें, तो दो चपतें रसीद कर देना, बकरे का नाम भी न लेगा। समझे ? अच्छा अब जाओ, फ़ौरन् बकरा ले आओ। रहमत, न हो, तुम भी इनके साथ चले जाओ। इन्हें या इनके बच्चे को बकरा देते हुए ज्यादह पसोपेश हो, तो उसे तुम्हीं पकड़ लाना। ’

रास्ते में रहमत ने कहा– ‘ देखा मुंशीजी, आपने ? साला कितना ज़ालिम है ! रहम तो उसे छूकर भी नहीं निकला है। आपने कितनी अर्ज़ मारुज़ की, मगर वह संग-दिल न पसीजा-न पसीजा ! ’

आरज़ू का हृदय भर रहा था। एक ‘ आह ’ के सिवा बेचारा कुछ न कह सका, जैसे सदमे के फन्दे ने उसके गलेको जकड़ दिया था।

बकरा पुलिस–लाइन के सामनेवाले खुले मैदान में, मस्ती से हरी-हरी

दूब चर रहा था। सामने से आते हुए आरज़ू पर उसकी नज़र पड़ी। चरना छोड़कर वह आरज़ू की ओर टुमुकता हुआ दौड़ा। पास आते ही उसके पैरों से–हाथों से सर रगड़-रगड़कर वह बेज़बान अपने हृदय में छिपी हुई मुहब्बत का इज़हार करने लगा। वह रोज़ ही ऐसा करता था और आरज़ू उसके शरीर पर दो-चार बार हाथ फेरकर, उसे दो-चार बार पुचकार कर, घर में चला जाता था। पर, उसकी सदा की इस हरकत ने आज आरज़ू के कलेजे को मसल डाला। आज वह बकरे पर प्यार नहीं कर सका, प्यार के लिये उसका हाथ नहीं उठा, प्यार के लिये उसके होठों से पुचकारने को आवाज़ नहीं निकली। उसकी आँखें छलछला आईं।

'आह पीरा! तू मेरे यहाँ क्यों पैदा हुआ था! तुझे मालूम नहीं है केवल एक रात बीच में है, दूसरे दिन का उजाला तेरी इस ज़िंदगी के ख्वाब पर अँधेरी चादर डाल देगा। बेटा, अब अपनी यह मुहब्बत अपने ही साथ लेता जा। रहमत, तुम्हीं इसे ले जाओ। पर देखना, मेरे अहमद को यह हाल मालूम न होने पावे। भाई तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ, इस बूढ़े की यह ज़रा–सी अर्ज़ भूल न जाना।' कहते कहते आरज़ू का गला भर आया और उसकी आँखोंसे दो गरम-गरम आँसू टपक पड़े।

आरज़ू का वह उतरा हुआ चेहरा, उसकी वह उमड़ी हुई आँखें, उसका वह भरा हुआ गला–सबने रहमत की न जाने किस धातु की बनी हुई छाती पर गहरा असर डाला। उसने चुपचाप बकरे का कान पकड़ा, वह उसे लेकर चला, मगर उसकी आँखों में वह चमक न थी, चेहरे पर वह मुसकिराहट न थी। चाल में भी वह तेज़ी न थी। ऐसे जा रहा था, जैसे सोच के भार से दबा हुआ हो।

रहमत अभी दारोगा साहब के बँगले से कुछ फ़ासले पर ही था कि उसे सामने से बगल में छोटा-सा बस्ता दाबे हुए अहमद आता दिखाई दिया। उसे देखते ही बकरा एकदम 'में–में' चीख उठा और छूटने के लिये

तड़फड़ाने लगा; ठीक वैसे ही, जैसे देर से बिछुड़ी हुई मा को देख कर छोटा-सा बच्चा ' मा—मा ' पुकार उठता है और उससे लिपटने के लिये व्याकुल हो जाता है। अहमद ने दौड़कर बकरे की पींठ पर हाथ फेरा, और रहमत से कहा—'चचा मेरे पीरा को कहाँ लिए जाते हो ? छोड़ दो ' मैं स्कूल से-आ गया हूं, इसके साथ खेलूँगा। '

रहमत ने कुछ जवाब नहीं दिया। वह बकरे को पकड़ हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया। नन्हाँ—सा अहमद भी 'चचा, मेरे पीरा को छोड़ दो, ' ' चचा मेरे पीरा को छोड़ दो ' कहाता हुआ उसके पीछे पीछे चला। पहले उसके स्वर में स्वाभाविकता थी, फिर क्रोध आया और बाद में कातरता आई। अहमद रोआंसा हो गया। परन्तु रहमत चुपचाप अपना काम किए जा रहा था।

दारोगा साहबने पीरा को देखा। घड़े जैसा सर, ऐंठे हुए लम्बे लम्बे सींग, छः इञ्च से भी अधिक लम्बी दाढ़ी, भरा हुआ गर्दाना, काफ़ी से भी अधिक ऊँचा मांसल शरीर, मोटे-मोटे पैर, खूब चमकता हुआ गहरा काला रंग—दारोगा साहब की तबीयत बाग़ बाग़ हो गई। बोले—' रहमत, चीज़ तो तुमने वाक़ई बढ़िया तलाशी। कोई हर्ज नहीं, जो चार-छ रुपए खर्च हो जायेंगे। अच्छा, इसे जाकर अस्तबल में बांध दो। '

दारोगा साहब की आज्ञा सुनकर रहमत चुपचाप चला गया।

अहमद का कलेजा मुँह को आने लगा।

' मेरा पीरा—मेरा पीरा ! '

अहमद फूट फूटकर रोने लगा। फिर दारोगा साहब के सामने जाकर बोला—' चचा, मेरे पीरा को छोड़ दो ! ' दारोगा साहबने मनी बेग खोल-कर चार पैसे निकाले और अहमद की हथेली पर रखकर कहा ' ये पैसे ले जाओ। मिठाई खाना ! पीरा मैंने तुम्हारे अब्बा से खरीद लिया है। अब तुम्हें न मिलेगा। '

अहमद ने पैसे फेंक दिए। वह दारोगा साहब के पैरों में लिपट गया और बोला– 'मुझे तुम्हारे पैसे नहीं चाहिए। मुझे तो मेरा पीरा दे दो!'

इतनी गुस्ताखी! बड़े बडे आदमी जिसके सामने ज़बान नहीं हिला सकते, उसीसे एक ज़रा सा छोकारा इस तरह ज़बान लड़ावे! दारोगा साहब की तबीयत में आग लग गई। उन्होंने अहमद का कान पकड़ा और ज़ोर से मल दिया, एक दिल दहला देने वाली गर्जना के साथ–' भाग कम्बख्त् यहाँ से!'

बेचारा बालक तिलमिला उठा। भागकर बरामदे से बाहर निकल आया अब वह कभी अस्तबल के सामने आकर खड़ा होता था और कभी बरामदे के; फिर हृदय को छेदनेवाली आवाज़ में चिल्लाता था 'मेरा पीरा–मेरा पीरा!'

उधर अस्तबल में बन्द पीरा मारे वेदना के अलग तड़प रहा था और बार-बार में-में कहकर अहमद को पुकारता था। उसकी एक–एक आवाज़ अहमद के हृदय को अपनी ओर खींचती थी और अहमद रह-रह कर चीखता था–'मेरा पीरा–मेरा पीरा!'

दारोगा साहब इस कोहराम से परेशान हो उठे। उन्होंने गरज कर छोटा को हुक्म दिया–' अबे, उल्लू के पठे, उस बदनसीब आरज़ू को खबर कर दे! अपने बाप को उठाले जावे। नहीं तो मैं मारे हण्टरों के साले की चमड़ी उधेड़ डालूँगा।'

बेचारा आरज़ू आया। उसे देखते ही अहमद डीक मारकर उसके पैरों से लिपट गया। चारों ओर हवा में एक करुण चीत्कार गूँज उठा 'मेरा पीरा-मेरा पीरा!'

आरज़ू ने छाती पर पत्थर रख कर कहा–' बेटा, घर चलो। पीरा की उम्मीद हमेशा के लिये छोड़ दो।

बालक मचल गया। 'मेरा पीरा–मेरा पीरा' कहकर धूल में लोट गया।

आरज़ू ने पुचकार कर उसे उठाया, कपड़ों की धूल झाड़ी और गोद में लेकर घर की राह ली। आरज़ू की आँखों से टप–टप आँसू गिरते जाते थे और अह-मद चिल्लाता जाता था 'मेरा पीरा–मेरा पीरा!'

घर पहुँचने पर अहमद का हाल और भी बुरा हो गया। वह धरती पर यहाँ से वहाँ लोटता और पुकारता था–'मेरा पीरा–मेरा पीरा!'

मा-बाप उसे गोद में उठाते थे, पुचकारते थे, समझाते थे, लालच देते थे, पर वह एक ही सदा लगाता था– 'मेरा पीरा–मेरा पीरा!'

मा गोद में लेकर कहती थी– 'मेरे लाल, रोओ मत! पीरा चला गया है, तो चला जाने दो। मैं तुम्हें उससे भी अच्छे बहुत-से बकरे मँगवा दूँगी। तुम उनके साथ खेलना।'

पर, अहमद एक नहीं सुनता था– बार-बार यही कहता था– 'मेरा पीरा–मेरा पीरा! अम्मा, मुझे मेरा पीरा दिलवा दो।'

अहमद घण्टों रोता रहा। रोते-रोते उसकी आँखें सूज गईं, गला बैठ गया। बेचारे ने न कुछ खाया, न पिया। बच्चे की यह हालत देख मा–बाप भी कुछ खा पी न सके। अन्त में रोते-रोते थक गया और थककर सो गया। परंतु नींद की कोमल गोद में भी उसके जलते हुए हृदय को आराम न मिला। वह सपने में पीरा को ही देखता और उसी के साथ खेलता था। परन्तु जब पीरा उसके हाथ से छूट जाता, तो 'पीरा-पीरा' पुकार उठता था। ऐसी हालत में मा-बाप भला कहाँ सो सकते थे! बेचारे चुपचाप आँसू बहाते और अपनी क़िस्मत को कोसते थे।

पिछली रात में अहमद का शरीर तप उठा। सवेरा होते-होते बेचारे को ज़ोरों के बुख़ार ने जकड़ लिया। जब उसकी आँख खुली, तो उसने पूछा– 'अम्मा, मेरा पीरा कहाँ है?'

मा बेचारी क्या जवाब देती! उसकी आँखों में गंगा–यमुना उमड़ आईं।

उसे रोती देख अहमद बोला– ' अम्मा, रोओ मत ! मुझे याद आ गया, मेरे पीरा को दारोगा साहब ने बाँध लिया है । अब मैं उसके लिये नहीं रोऊँगा । तुम भी मत रोओ अम्मा ! '

यह कहते-कहते बालक बेहोश हो गया ।

आरज़ू की बीबी ने आरज़ू से कहा– ' देखो तो, अहमद रात-भर में ही क्या से क्या हो गया है ! न हो, एक बार उस नेकबख्त के पास चले जाओ । कहना, खुदा के वास्ते मेरे बच्चे की जान बख्श दे । '

आरज़ू ने जवाब दिया–' अहमद की अम्मा, उस ज़ालिम से कुछ उम्मीद न रक्खो । खुदा ने उसे दिल नाम की कोई चीज़ ही नहीं दी । पर, तुम कहती हो, तो मैं उसके पास जाता हूँ; रोऊँगा, गिड़गिड़ाऊँगा, शायद पसीज उठे । '

आरज़ू दारोगा साहब के पास गया । उसने उनके क़दमों पर सर रख दिया और उन्हें चौधार आँसुओं से धोते हुए अर्ज़ की–' हुज़ूर, मेरे बच्चे के हाल पर रहम कीजिए । मैं झूठ नहीं कहता । आप खुद चलकर देख लीजिए । रात-भर में ही खिला हुआ गुलाब इस तरह मुरझा गया है, जैसे किसी ने कड़े हाथों मसल डाला हो । रात-भर में ही मेरा अहमद ऐसा हो गया है, जैसे उसे किसीने पकड़कर निचोड़ दिया हो । हुज़ूर, समझ लीजिए, अहमद आप का ही बच्चा है और केवल यही समझकर उसकी जान बख्श दीजिए । हुज़ूर, मैं अपना दामन फैलाता हूँ, यह थोड़ी–सी भीख दे दीजिए । बड़ा सबाब होगा । '

पर, सत्ता का अभिमान बेकस की आह पर नहीं पिघला–नहीं पिघला । उसने हँसते–हँसते, झिड़कते हुए उस गुहार को–जिसे सुनकर शायद ईश्वर भी काँप उठा होगा–बूट की ठोकर से ठुकरा दिया ।

बूढ़ा आरज़ू बिलकुल हताश हो कर लौट आया ।

सब मुसलमानों के यहाँ खुशियाँ मनाई जा रही थीं, पर, बेचारे आरज़ू

के घर में मातम के घने बादल छाए हुए थे। उसने न नहाया, न नये कपड़े पहिने। ग़रीब ईदगाह भी न गया। एक तरफ़ गहरी उदासी के आलम में बैठा रहा। बीबी का हाल और भी बुरा था। बेचारी बच्चे के सिरहाने बैठी थी और चुपचाप आँखों से आँसू बहा रही थी।

अहमद का हाल अच्छा न था। बुखार क्षण-क्षण पर बढ़ता जाता था। एकाएक उसने आँखें खोलीं और मा से पूछा– ' अम्मा, दारोग़ा साहब ने मेरे पीरा को क्यों पकड़ लिया ? उसने उनका तो कुछ नुक़सान नहीं किया था।'

भोली-भाली मा बच्चे को क्या कहकर समझाती ? उसने साफ़ बा कह दी– ' बेटा, आज बक़रीद है। दारोग़ा साहब तुम्हारे पीरा की क़ुरबानी करेंगे। '

' कुरबानी कैसी होती है अम्मा ? ' अहमद ने पूछा।

मा बड़े पसोपेश में पड़ गई, फिर कुछ सोचकर बोली– ' बकरे को नहलाते हैं, फूलों के हार पहनाते और इत्र लगाते हैं। इस के बाद कलमा पढ़कर उसकी गर्दन पर छुरी फेर देते हैं। '

अहमद काँप उठा।

' अच्छा ! तो मेरा पीरा मारा जायगा–उसके गले पर छुरी फेरी जायगी। आह ! तब तो बेचारे को बड़ी तकलीफ़ होगी। अम्मा, लोग ऐसा क्यों करते हैं ? कुरबानी करने में उन्हें क्या मज़ा मिलता है ? ' कहते–कहते अहमद की आँखें भर आईं।

' बेटा कुरबानी से अल्लाह मियाँ खुश होते हैं ? ' मा ने सहज-भाव से जवाब दिया।

' अम्मा ! जान मारने से अल्ला मियाँ ख़ुश होते हैं ! यह कैसी बात है ? अगर तुम मेरी गर्दन पर छुरी फेर दो, तब अल्लाह मियाँ और भी खुश होंगे ! क्यों न अम्मा ? आँसू बहाते हुए अहमद ने कहा।

मा काँप उठी। उसने बेटे को कस कर छाती से लगा लिया! वह उसके माथे पर हाथ फेरते हुए बोली– 'ऐसा न कहो बेटा! तुम मेरी आँखोंके तारे हो। भला मैं तुम्हारी कुरबानी करूँगी?'

'पीरा भी तो मेरी आँखों का तारा था!' कह कर अहमद छप्पर की ओर देखने लगा। उस के मन में कैसे क्या भाव उठ रहे थे–इसे कौन कह सकता है!

इसी समय छोटा आया। उसने थाल पर पड़ा हुआ कपड़ा हटा कर एक रान निकाली। उसे देखते ही आरज़ू की आँखों से आँसू बहने लगे। पर, कुरबानी का तबर्रुक समझ, वह उस मांस-पिण्ड का अपमान नहीं कर सका। बेचारे में यह साहस भी न था कि दारोगा साहब के भेजे हुए तबर्रुक को वापिस कर देता। अतः वह रान भीतर ले आया।

रान पर अहमद की नज़र पड़ी। वह सब कुछ समझ गया। एक ठण्ढी साँस खींच कर बोला– 'आह, मेरा पीरा खतम हो गया। अब मैं उसे कहाँ पाऊँगा अम्मा? मेरा पीरा मुझसे छीन लिया गया। मैंने अपने पीरा को खो दिया। अब मैं भी उसके पास जाऊँगा–उसे पाने के लिये अपने को खो दूँगा।' इसके बाद वह एक बारगी चिल्ला उठा– 'मेरा पीरा–मेरा पीरा।' और फिर उसने आँखें बन्द कर लीं।

थोड़ी देर बाद अहमद एका एक चौंक पड़ा–'अ हा पीरा! तू इतनी देर से कहां था? मैं तुझे कब से ढूँढ रहा हूँ! ले, अब मैं भी आपहुँचा। अब मैं तुझे इतने ज़ोर से पकडूंगा कि मुझसे तुझे कोई न छीन सकेगा।'

मा ने घबराकर अहमद के शरीर पर हाथ फेरा। फिर पति से कहा–'देखो तो, अहमद का जी अच्छा नहीं है। तमाम बदन गरम तवे के माफ़िक़ जल रहा है।'

आरज़ू ने अहमद के शरीर पर हाथ रक्खा। पत्नी का कहना सच था, बोला–' उफ्! बहुत ज़ोरोंका बुखार है! क्या करूं, डॉक्टर को बुला लाऊँ?'

'जैसा तुम जानो !' कहकर पत्नी चुप हो गई।

आरज़ू जैसा बैठा था, वैसा ही उठकर डॉक्टर को लेने चला गया। डॉक्टर ने आकर बच्चे की नब्ज़ टटोली, फिर थर्मामीटर लगाया। देखा, तो बुखार १०४ डिग्री से आगे निकाल गया था। उसने निराशा से आरज़ू की ओर देखा और निराशा भरे स्वर में कहा—'मुंशीजी, अबतक क्या करते रहे ? बच्चे की यह हालत हो गई, और तुमने मुझे खबर तक न दी ! इसका हार्ट तो बिलकुल कमज़ोर होगया है। खैर, चलो, मैं दवा देता हूँ।'

आरज़ू डॉक्टर के साथ चला गया। पन्द्रह मिनट बाद ही वह दवा लेकर लौटा। एकएक उसके कानों में रोने की आवाज़ पड़ी—'अरे बेटा तू मुझे अकेली छोड़कर कहां चला गया ! हाय ! पीरा तुझे ऐसा प्यारा था !'

आरज़ू के पैरों में आँधी आगई। वह लपक कर घरमें पहुँचा, तो देखता क्या है, कि पंच्छी उड़ गया है, खाली पिंजड़ा पड़ा है और बच्चे की मा उसपर सर पटक रही है।

आरज़ू के हाथ से दवा की शीशी छूट गई। बेचारा एक आह खींचकर वहीं कटे हुए पेड़ की नाईं गिर पड़ा।

निर्धनता की ओट में—

घर लौटते लौटते जुम्मन को शाम हो गई थी। सूरज दिन भर के कठिन जीवन संग्राम से विरक्त होकर क्षितिज के अञ्चल में छिपने की चेष्टा कर रहा था। ठण्ढी हवाके मीठे मीठे झोंके प्रवाहित होने लगे थे; जैसे शरद ऋतु के निर्मल नीर वाले कल-कल करते हुवे नदी-नाले। पक्षी दल बाँध बाँध कर अपने बसेरों की ओर किसी कवि की कल्पना के समान उड़े जा रहे थे। चारों ओर एक मनोहर शान्ति छाई हुई थी। परन्तु आनन्द और स्फूर्ति के उस सुखद राज्य में जुम्मन की कङ्काल मुर्ति धीरे धीरे रेंग रही थी; जैसे वह जीवन यात्रा की पीड़ा से बिलकुल थक चुकी थी, उत्साह और बल उसे अयोग्य समझकर कभी के त्याग चुके थे, और अब उसके पैर भी उसे जवाब दे रहे थे।

जुम्मन ने अपने घर-पर क्या झोंपड़े के सामने पहुँचकर देखा, नीम की ठण्ढी छाया में गुरुदीन चौधरी अपना मोटा लठ सँभाले हुए बैठे हैं और

उसकी बुढ़िया मा शकूरन उनसे बातें कर रही है।

गुरुदीन चौधरी गाँव के ज़मीदार के यहाँ नौकरी करते थे। तक़ाज़े के लिये जाना, आसामियों को पकड़कर लाना, और फ़ुरसत के समय डेवढ़ी पर बैठे बैठे गप्पें हाँकना तथा क्षण क्षण पर चिलम फूँकते रहना—यही उनकी नौकरी थी। कोई दिन था, जब वे भी गाँवके बड़े आदमियों में गिने जाते थे। उनके द्वार पर मस्त बैलों की जोड़ी झूमती रहती थी और खलिहान से गाड़ियाँ भर भर कर अनाज चला आता था। परन्तु छप्पन की सालने उनके दिन बिगाड़ दिए। बैलों की जोड़ी बिक गई; खेत हाथ से निकल गए और चौधरी जी को नौकरी की शरण लेनी पड़ी। पहले वे किसी की ओर सीधी आँखों न देखते थे; परन्तु जब विपत्ति की चोटों ने उनके हृदय को मोम कर दिया, तब वे दिनों दिन गाँववालों की ओर खिंचने लगे। दीनता के उत्पीड़न ने सहज ही उनके हृदय में सहानुभूति के साथ उदार विचार उत्पन्न कर दिए। एक दिन वे अपने आसामियों को सताकर प्रसन्न होते थे, अब जमींदार के आसामियों की दीन-दशा देखकर उनके हृदय में हल-चल सी होने लगती थी। सच तो यह है, कि ज़मीदार और उनके आसामियों के बीच चौधरी जी एक पतली चादर के समान थे। यह चादर ज़मीदार के आक्रमण को पहले अपने ऊपर झेलती थी, जिससे आसामियों पर होने वाले आघातों की तीव्रता में थोड़ी बहुत कमी हो जाती थी। अस्तु—

गुरुदीन को देखते ही जुम्मन का दिल बैठ गया, जैसे कोई भयङ्कर मुसीबत उसके सामने मुँह फैला कर खड़ी हो गई हो। वह एक क्षण के लिये जहाँ का तहाँ थम गया और घबराई हुई आँखों से गुरुदीन की ओर देखने लगा। फिर धीरे धीरे नीम की छाया में पहुँचा, और "राम राम चौधरी कक्का" कहते हुए–सिर से अनाज की पोटली उतारते उतारते धरती पर बैठ गया।

... राम बेटा ! आ गए ? " कह कर गुरुदीन ने जुम्मन की ओर नज़र उठाई। गढ़े में धँसी और कीचड़ से भरी हुई निष्प्रभ आँखें, पिचके हुए गाल, पींठ से सटा हुआ पेट, एड़ी से चोटी तक गहरी उदासी के रंग से रँगा हुआ काला शरीर, और शरीर पर धोती तथा फ़तुही के नाम पर लिपटे हुए मैले कुचैले चिथड़े। गुरुदीन आए थे तक़ाज़ा करने, पर करुणा की वह कुम्हलाई हुई मूर्ति देखकर उनके मुँह से एक शब्द तक न निकल सका। वे केवल जुम्मन का मुँह देखते रह गए।

जुम्मन की बुढ़िया मा शकूरन बोली– " गुरुदीन लाला, जब तुम्हीं हमारा दर्द नहीं समझते, तब हम किसे अपना रोना सुनावें। तुम से कोई दुराव तो है नहीं। दिन भर में एक बार पेट भर भोजन तक तो मिलता नहीं; कहाँ से रुपए आवें, कहाँ से क़र्ज़ चुकावें ? मेरे बच्चे की तरफ़ देखो, भरी जवानी में ही यह फूल किस तरह सूख गया है ! तुम्हीं बताओ अब क़र्ज़ चुकाने के लिये हमारे पास बचा ही क्या है ? "

गुरुदीनने उत्तर दिया " सब जानता हूँ, सब समझता हूँ, सब देखता हूँ भाभी ! पर ज़मीदार साहब तो ये बातें नहीं जानते, नहीं समझते। उन्हें क्या समझाऊं, कैसे समझाऊँ–कहाँ तक समझाऊँ ! आख़िर मैं तो नौकर ही हूँ; मालिक की बात कहाँ तक टाल सकता हूँ ! "

" या आल्लाह ! " एक ठण्टी साँस छोड़कर जुम्मन बोला " कक्का अब्बा ने जीजी की शादी के लिये ज़मींदार से सौ रुपए लिए थे। इसी क़र्ज़ ने उनकी जान ली। डेढ़ सौ रुपए की जोड़ी बिक गई, सौ रुपए की गाय भैंसें निकल गईं, तीन सौ रुपए की धरती से हाथ धोना पड़ा, फिर भी ज़मींदार का क़र्ज़ न चुका, और इसी चिन्ता में जल जल कर अब्बा ने अपनी जान दे दी। उनके बाद मेरे ऊपर यह मुसीबत आई। दस बरस में और नहीं तो, सौ-डेढ़ सौ रुपए अदा किए होंगे, इसी फ़िक्र में यह शरीर सूख कर काँटा हो गया, इसी फ़िक्र ने बच्चों की मा का जी तोड़ दिया, वह

बीमार हुई और एक धेले के चिरायते के लिये तरस तरस कर मर गई, फिर भी जमींदार के क़र्ज़े से पीछा न छूटा!"

जुम्मन की आँखें छलछला आईं। उन्हें पोंछते पाँछते वह पुनः बोला "आमदनी का यह हाल है, कि दिनभर जंगल में लकड़ियाँ बीनता-बटोरता हूँ, उनके गट्ठे को लादकर तीन कोस दूर शहर में ले जाता हूँ, दूर दूर भटकता हूं,तब कहीं मुश्किल से दो-चार आने मिलते हैं! मैं अकेला कमाने वाला और चार खाने वाले, एक आदमी की कमाई कहाँ तक ज़ोर मारे? आज की ही बात देखो। बैसाख की यह गर्मी, धधकती हुई धरती, ज्वालाओं से भरा हुआ आकाश, मन प्राणों को सुखा डालने वाली गरम गरम हवा, दिन भर की कड़ी धूप सिर पर से निकल गई; पानी के घूँट पी पीकर किसी तरह पहाड़सा दिन काटा, कोसों दौड़ धूप की, तब कहीं यह डेढ़ सेर अन्न लेकर लौटा हूँ, जिसके साथ न एक पैसे की दाल है, न धेले का नमक। अब बताओ, क्या मैं खाऊँ, क्या बूढ़ी मा और बच्चों को खिलाऊँ और क्या क़र्ज़ में दूँ? ऐसी ज़िन्दगीसे तो मौत ही भली—न खाने का सुख, न पहिनने का आराम, न तबीयत में चैन!"

कहते कहते जुम्मन का गला भर आया। उसके हृदय में छिपा हुआ वेदना का सागर उमड़ उठा। ज्योति हीन नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

शकूरन भी रोने लगी। वह जुम्मन के निकट खिसक आई और उसकी आँखों पर हाथ फेरती हुई बोली—"या अल्लाह! हमारे दुश्मनों को भी ऐसे दिन न देखने पड़ें। मेरे लाल, रोओ मत। मालिक की मर्ज़ी को देखो, उसने हमारे भाग्य में यही लिख दिया है।"

माता की यह कोमल सहानुभूति मिली, तो जुम्मन और भी अधीर हो उठा, सिसक सिसक कर रोने लगा। इसी समय जुम्मन के दोनों बच्चे वहाँ आ पहुँचे, बिलकुल नंगे, हड्डियों पर केवल चमड़ा मढ़ा हुआ। दादी और

पिता को रोते देख, वे भी उनसे लिपट कर ज़ोर ज़ोर से रोने लगे।

दीनता के कठोर हाथों से मसले हुए उन असहाय प्राणियों का वह कातर विलाप सुनकर गुरुदीन का हृदय भी भीतर ही भीतर रोने लगा। उनकी आँखें डबडबा आईं। उन्हें अपनी नौकरी पर बड़ी घृणा हुई। वे मन ही मन सोचने लगे–हाय! मेरा कर्तव्य भी कितना घृणित है। मैं तक़ाज़ा करने क्या निकलता हूँ, पिशाच बनकर आसामियों के सामने पहुँचता हूँ। मेरी सूरत देखते ही उनकी जान सांसत में पड़ जाती है। उनके जीवन का अन्धकार और भी गहरा हो जाता है। उन्होंने जुम्मन के सिर पर हाथ रखकर कहा–"कैसे पागल हो बेटा! घबराने से क्या होगा? रोने से तो मुसीबत कटती नहीं। धीरज धरो। भगवान् सब का बेड़ा पार लगाते हैं। मुझे ही देखो, पहले क्या था, अब क्या हो गाया हूँ! क्या मुझे रूलाई नहीं आती है! नहीं, मुझे भी रूलाई आती है, पर मैं मन ही मन रो लेता हूँ। वह रोना ही क्या, जिसे दुनिया देखे और देखकर हँसे।"

आँसुओं का बोझ उतर जाने से जुम्मन का हृदय कुछ हल्का हुआ। ऊसने गुरुदीन से कहा–"कक्का, तुम्हीं बताओ, मैं कैसे अपने हृदय को समझाऊँ? हाय! मेरे सब्र का प्याला लबालब भर चुका है। फिर भी तुम मुझसे सब्र करने की बात कहते हो। हमारी सोने की मड़ैया धूल में मिल गई, हम दाने दाने को मुहताज हो गए, तब भी क़र्ज़ से मुक्ति न मिली। मेरे ये अबोध बच्चे माघ–पूस का तुसार ठिठुर ठिठुर कर–दँतौरी बजा बजाकर तेर कर देते हैं; फिर भी कपड़े का एक तार तक नहीं पाते। बेचारे एक एक रोटी के लिये तड़पा करते हैं, भूख की ज्वाला से रो रो कर पहाड़ से दिन बिता देते हैं! और मैं इनका पेट काट काट कर एक मुद्दत से ज़मींदार का घर भरता आ रहा हूँ, इतने पर भी आठ पहर चौंसठ घड़ी क़र्ज़ का दुधारा मेरे सिर पर नाचता रहता है। साल में जितने रुपए देता हूँ, उतनेही बाक़ी बने रहते हैं। न जाने इस जिन्दगी में इस मुसीबत से पीछा

छूटेगा या नहीं।"

गुरुदीन बोले—"बेटा, ज़मींदार के क़र्ज से किसी का पीछा छूटा है, कि तुम्हारा ही छूटेगा ? तुम तो क्या, शायद तुम्हारे बच्चे भी इस मुसीबत से छुट्टी न पा सकेंगे। अब तो हिम्मत और धीरज से ही काम लो। समझ लो, हम ज़मींदार के यहाँ अमानत जमा कर रहे हैं, जो उनसे परलोक में वसूल कर ली जायगी।"

कहते कहते गुरुदीन चुप हो गए, कुछ सोचने लगे। फिर घड़ी भर बाद बोले—"बड़े ठाकुर आठ रोज़ से तुम्हें बुला रहे हैं, और मैं बहाने बना बनाकर उन्हें टाल रहा हूँ। न हो, घड़ी भर के लिये चले चलो। अधिक टालने से मैं आफ़त में फँसूँगा।"

इसी समय वहाँ सहसा हलकू नाई आ निकला। वह ज़मींदार साहब का मुँह लगा ख़िदमतगार था। उसे देखकर गुरुदीन और जुम्मन दोनों सहम गए।

जुम्मन ने गुरुदीन से कहा—"कक्का, अभी गाँव से लौट रहा हूँ। बिलकुल थक गया हूँ। पैर उठाने की हिम्मत नहीं है। भूख-प्यास के मारे बेचैन हो रहा हूँ। आज छोड़ दो। कल मैं बिना बुलाए ही हवेली में हाज़िर हो जाऊँगा।"

गुरुदीन उच्च-स्वर में बोले—"बेटा, आज कई दिन बाद हाथ लगे हो। मैं तुम्हारी एक न सुनूंगा। बोलो, सीधे-सीधे चलते हो या नहीं ?"

गुरुदीन का यह भाव परिवर्तन देख जुम्मन काँप उठा। उसने उनके पैर पकड़ लिए, और गिड़गिड़ाकर कहा,—"कक्का, तुम्हें राम दुहाई है, आज दया कर दो। क़सम ले लो, कल सबेरे मैं बिना बुलाए ही सरकार के सामने पहुँच जाऊँगा। न पहुँचूं, तो जो चोर की सज़ा, सो मेरी सज़ा।"

गुरुदीन उठ कर खड़े हो गए। उन्होंने लपक कर जुम्मन का हाथ पकड़ा और कहा— "चुपचाप चले चलो। नहीं तो मारे मार के कचूमर

निकाल दूँगा। कब से समझा रहा हूँ, मानते ही नहीं।"

फिर जुम्मन ने कुछ नहीं कहा। बेचारा चुपचाप गुरुदीन के पीछे पीछे चलने लगा। उसके दोनों बच्चे भी "अब्बा! अब्बा!!" पुकारते और चीख़ते-चिल्लाते हुए उसके साथ हो लिए।

शकूरन ज़ोर से पुकार उठी- "गुरुदीन लाला! .... मेरा बच्चा ....!" फिर उसने अंचल फैलाकर सूनी आँखों से आसमान की ओर देखा, और करुण स्वर में पुकारा- "या अल्लाह!" इसके आगे वह कुच्छ न कह सकी, और न रो ही सकी; जैसे संसार की समस्त वेदना ने उसका गला दबा दिया हो और हृदय में धधकते हुए दावानल ने उसकी आँखों में भरा हुआ सम्पूर्ण सागर शुष्क कर दिया हो। सच है, विपत्ति की चरम सीमा में पहुँचने पर आदमी न तो बोल सकता है, और न रो ही पाता है।

गुरुदीन ने जुम्मन को गाँव के ज़मीदार बड़े ठाकुर शेर बहादुर के सामने पेश कर दिया। ठाकुर साहब सहन में एक ऊँची मसनद पर तकिए के सहारे बैठे हुए थे। एक सेवक उनपर पंखा हिला रहा था। सामने एक सुन्दर थाल रखा हुआ था, जिसमें शराब की बोतल, प्याला, कोफ़्ते, कबाब, सिगारेट का डिब्बा, दिया सलाई का बक्स, आदि सामग्री बड़ी सफ़ाई के साथ सजी हुई थी, ठाकुर साहब ने प्याला ढालते ढालते जलती हुई आँखों से जुम्मन की ओर देखा।

जुम्मन हाथा बाँधे हुए खड़ा था, और इस तरह काँप रहा था, जैसे तूफ़ानी सागर पर तैरती हुई नौका। वह एक दार्शनिक के सदृश ठाकुर साहब की ओर ताक रहा था, मानों उनकी काया में छिपे हुए उदारता, दयाशीलता, निष्ठुरता, स्वार्थलिप्सा, आदि भावों का विश्लेषण कर रहा हो।

"हरामज़ादे!"-जैसे निर्जन बन में एक बारगी शेर दहाड़ उठा, और वह भयंकर गर्जना सुनकर दशों दिशाएँ काँप उठीं। प्याला ख़ाली करते

हुए, ओठों को चाटते चाटते ठाकुर साहब ने जुम्मन से कहा " इतने दिनों से कहाँ था ? "

सरकार !......भयभीत बच्चे की वाणी के समान जुम्मन के स्वर में कम्पन हो रहा था। ठाकुर साहब का वह रोबीला चेहरा, वे जलते हुए नेत्र और हृदय को हिला देने वाला वह भीषण स्वर ! मारे मय के जुम्मन का कलेजा धक् धक् करने लगा। " सरकार " कहकर वह जमीन पर औंधा लेट गया, जैसे क्रूरता के उस पिशाच से दया की भिक्षा माँगने लगा।

" सूअर के बच्चे !"—फिर वही गर्जना हुई। ठाकुर साहब ने बाक़ी शराब गले में उड़ेलकर " हरामी के पिल्ले ! तुझ से कितने बार तकाज़ा किया जाय ? " कहते हुए बोतल खींच कर जुम्मन के सिर पर मारी। परन्तु अभी जुम्मन की ज़िन्दगी के दिन बाक़ी थे, उसकी मुसीबतों का प्याला भरने में अमी विलम्ब था। ठाकुर साहब का निशाना चूक गया। बोतल धम् से जुम्मन की पींठ पर गिरी। उसके आघात से वह मृत प्राणी बिलबिला उठा और हृदय को पानी पानी कर देने वाली कातर ध्वनि में पुकार उठा—" सरकार ! माई बाप ! "

परन्तु निशाना चूक जाने से ठाकुर साहब का सुलगता हुआ क्रोध भभक उठा। मारे ताव के वे स्वयं जुम्मन को ठीक करने उठे ! परन्तु नशे की हालत, क्रोध का आवेग, पैर लड़खड़ा गए। ठाकुर साहब जहाँ के तहाँ बैठते हुए किचकिचाकर गुरुदीन से बोले " बेईमान के बच्चे ! देखता क्या है, कुचल दे बदमाश को ! न कुछ दस रुपये के लिये.... ! अबे सुनता है कि नहीं ? "

गुरुदीन ने हाथ जोड़कर दबी हुई आवाज़ से कहा—" अन्नदाता ! आज मैंने इसे बहुत पीटा है। पीटते पीटते कुन्दी बना दिया है। इसने कल रुपये देने का वादा भी किया है। अब जैसी आज्ञा हो। "

ठाकुर साहब हो हो करके हँस पड़े, बोले—" खूब किया। ये बदमाश

सीधे सीधे तो मानते ही नहीं।" फिर जुम्मन की ओर घूर कर बोले "सुना बे! कल शाम तक चुपके चुपके रुपये दे जाना, नहीं तो मुझसे बुरा कोई न होगा। घर में आग लगावा दूँगा, और तेरा चमड़ा खिंचवाकर उसमें भुस भरवा दूँगा।"

इसके बाद उन्होंने कड़ककर गुरुदीन को आज्ञा दी—"अबे ऊंट के माफ़िक क्या देख रहा है! इस पापी को मेरे सामने से हटा दे। और हाँ, हलकुआसे कह दे, उन रांडों को बुला लावे। शाम हो चुकी है, कुछ मज़ा मौज ही हो।"

अपमान के उस हलाहल को पीकर जुम्मन डेवढ़ी से बाहर निकला। उसके दोनों बच्चे, बाहर एक ओर खड़े खड़े सिसक रहे थे। पिता को देखते ही वे 'अब्बा अब्बा' कहकर उसके पैरों से लिपट गए। परन्तु इस समय जुम्मन आपे में नहीं था। उसकी दशा उस यात्री के समान हो रही थी, जो पथ भूलकर निर्जन बन की भूलभुलैयों में जा फँसता है, जिसे अमावास्या का सघन अन्धकार चारों ओर से ग्रस लेता है, और जिसके अगल-बगल में रह रह कर हिंस्र पशु चीत्कार कर उठते हैं। जुम्मन चुपचाप धीरे धीरे घर की ओर पैर उठा रहा था। कल का भीषण भविष्य पिशाच के समान उसके नेत्रों में नाच रहा था, और उसकी भयङ्कर कल्पना रह रह कर उसके एक एक रोम में कम्पन उत्पन्न कर देती थी।

घर पहुँचकर जुम्मन ने देखा, उसकी बुढ़िया मा अब तक नीम के नीचे बैठी हुई है और अनाजकी छोटी सी पोटली ज्यों की त्यों उसके सामने पड़ी है। जुम्मन को देखते ही शकूरन स्नेह–स्वर में पुकार उठी–"बेटा!"

जुम्मन डाल से टूटे हुए फल की नाईं धरती पर गिर पड़ा और धीमे स्वर में बोला—"अम्मा!"

शकूरनने पुनः पुकारा—"बेटा!"

जुम्मनने भर्राए हुए गले से उत्तर दिया " अम्मा ! "

पत्तों के वितानसे चाँदनी छन छन कर जुम्मन के पिचके हुए चेहरे पर नाच रही थी। शकूरन ने देखा, उसके कलेजे का टुकड़ा चुपचाप रो रहा है। शकूरन के हृदयमें ज्वार उमड़ उठा। वह जुम्मन के पास सरक गई और उसके सिर को अपनी गोद में रखकर रुँधे हुए स्वर में बोली–" बेटा, क्या हुआ ? " शकूरन की आँखों से वेदना की बड़ी बड़ी बूँदें गिरने, और जुम्मन के सूखे हुए कपोलों को तर करने लगीं।

जुम्मन के धीरज का बाँध टूट गया। उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसने अटक अटक कर कहा—" अम्मा, अब क्या होगा ? "

शकूरन ने अपने फटे हुए अञ्चल से जुम्मन के आँसू पोंछे और उसे दिलासा देते हुए कहा–" बता तो क्या हुआ ? बड़े ठाकुर ने क्या कहा ?"

" क्या बताऊँ अम्मा ! मेरा दुर्भाग्य मेरे सिर पर खेल रहा है। बड़े ठाकुर ने कहा है, कि अगर कल तक रुपए अदा न कर दिए गए, तो मेरी वह झोंपड़ी जला दी जायगी और मेरा चमड़ा खिंचवाकर उसमें भुस भरवाया जायगा। हाय ! कल का दिन...... ! " कहते कहते जुम्मन का हृदय फटने लगा, और वह डीक मार कर रो पड़ा।

भोले भाले बच्चे बाप की मुसीबत को क्या समझते। उसे रोता देख उनका जी यों ही बेचैन हो रहा था, अब उसकी डीक सुन, वे उसके शरीर पर गिर पड़े, और " अब्बा–अब्बा " कह कर, फुक्का फाड़ फाड़ कर रोने लगे। उन दुखियों के करुण क्रन्दन से वृक्ष पर बसी हुई चिड़ियों की नींद उचट गई। वेदना की अनुभूति से वे अपने चारों ओर देखने, चें चें करने और इस डाल से उस डाल पर फुदकने लगीं। हँसती हुई प्रकृति में चारों ओर एक गहरी उदासी छा गई।

शकूरन एक मुद्दत से मुसीबातों से युद्ध करती आ रही थी, मुसीबतों से युद्ध करते करते ही उसके बाल सफेद हो गए थे। अपनी सन्तान का वह

दुःख देख उसने अपने थके हुए साहस को सँभाला। काँपते हुए हाथों अपने आँसू पोछें, बच्चों को पुचकार कर चुप कराया, और फिर आवेश-पूर्वक जुम्मनसे कहा—" बेटा, इस तरह घबराते हो ! छिः ! लोग देखेंगे, तो हँसेंगे और कहेंगे, कि तुम क़र्ज़ चुकाते रोते हो। उठकर बैठो, और हिम्मत से काम लो। जब तक दम में दम रहे, क़र्ज़ चुकाओ। अब भी ज़मीदार को देने के लिये हमारे पास बहुत कुछ है। कल बड़े ठाकुर के नाम पर बुधिया को निछावर कर दो।"

मा की बात सुनकर जुम्मन चौंक उठा। उठकर बैठ गया, और उसकी ओर आँखें फाड़ फाड़ कर देखते हुए बोला—" कहती क्या हो अम्मा ? "

" ठीक कहती हूँ बेटा ! कल बाज़ार का दिन है। बुधिया को ले जाकर बेच दो, और जो कुछ मिले, ज़मीदार को दे दो।" शकूरन ने उस आवेश-पूर्ण वाणी में कहा।

बुधिया जुम्मन की एक पुरानी गाय थी। जुम्मन शैशवकाल से ही उसे अपने घर में देखता आ रहा था। यह गाय उसके अब्बा ने उस समय ख़रीदी थी, जब जुम्मन मा की गोद में खेलता था, मा को दूध नहीं निकलता था, और वह दूध की एक एक बूँद के लिये तरसा करता था। जुम्मन इसी गाय का दूध पी–पीकर पला था। इसीलिये वह जुम्मन के मा-बाप को बहुत प्रिय थी। वे दोनों जुम्मन को बुधिया की ही देनगी समझते थे। जुम्मन के बाप पर बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ आईं, उसके हाथ से पत्नी के आभूषण निकल गए, खेत बिक गए, सभी गाय, बैल और भैंसों से हाथ धोना पड़ा, पर उसने कभी बुधिया के बेचने का विचार तक नहीं किया। अपने जीवन भर उसे बडे प्यार से—बड़े आरम से रक्खा। उसके बाद बुधिया जुम्मन को बहुत दिन तक पीने के लिये दूध, घर लीपने के लिये गोबर और जलाने के लिये उपले देती रही। परन्तु अब वह बूढ़ी हो गई थी। ज़मींदार की कृपा से गाँव में चरोखर का अभाव था ही, ऊपर

से जुम्मन की दरिद्रता ने बूढ़ी बुधिया को और भी निर्बल बना दिया था। परंतु बुधिया अब भी अपने कर्तव्य से विरत नहीं हुई थी, वह बराबर जुम्मन को घर लीपने के लिये गोबर और जलाने के लिये उपले देती जाती थी; हाँ, असमर्थता के कारण केवल पीने के लिये दूध नहीं दे सकती थी। परन्तु जुम्मन तथा उसकी मा की नजरों में बुधिया का वही मूल्य था। वे यथा-शक्ति उसे चारा—पानी देते और फुरसत के समय उस पर प्यार करते थे।

जो बुधिया इतने दिनों तक, बड़ी बड़ी आफ़तों में इस परिवार की संगिनी रही है, जो बुधिया इतने दिनों तक मेरे कुटुम्ब के एक प्राणी के सदृश रही है, वही बुधिया अब अपने बुढ़ापे में ज़मींदार के ऋण पर निछावर कर दी जाय—यह बात जुम्मन सोच भी न सकता था। मा की बात सुनकर वह सन्नाटे में आ गया, और क्षण भर मौन रहकर बोला— " बुधिया को बाज़ार में ले जाकर बेच दूँ—यह काम मुझसे न हो सकेगा अम्मा।"

" क्यों न हो सकेगा ? " शकूरन ने दृढ़ता-पूर्वक पूंछा।

" यह अपने हृदय से पूंछो अम्मा ! बुधिया हमारे पास अब्बा की सब से बड़ी धरोहर है, जिसकी हम अभागे कुछ भी हिफ़ाज़त न कर सके। बुधिया हमारे भले दिनों की एक मिटती हुई, पर सुन्दर निशानी है। यदि हमने अब्बा की यह धरोहर इस तरह खो दी, तो परलोक में उनकी आत्मा कितनी व्यथित होगी ? यदि हमने अपने खोए हुए वैभव की यह बची—खुची निशानी इस तरह मिटा दी तो पुरा पड़ौस के लोग क्या कहेंगे ? हमारा मुँह देखते देखते बुधिया बूढ़ी हो गई, हमारी ही चिन्ता में घुल घुल कर वह हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गई। अब इस अवस्था में मैं उसे बाज़ार में ले जाकर अपमानित करूँ—यह तो बड़ा विश्वासघात होगा। अम्मा ! मेरे लिये बुधिया को बेच डालना, या तुम्हें ले जाकर बाज़ार में खड़ी कर देना, एक ही बात है। " जुम्मन ने अपनी मर्म व्यथा को

दबाते हुए उत्तर दिया।

"आह! बड़े ठाकुर का क़र्ज़ चुकाने के लिये मैं कहीं बाज़ार में बिक सकती! पर, मैं तो बुधिया से भी गई बीती हूँ। बुधिया के तो भला दस–पाँच रुपए भी खड़े हो जायेंगे; पर मुझे तो कोई दमड़ी को भी न पूंछेगा।" कहते कहते शकूरन के नेत्रों में जल भर आया।

क्षण भर चुप रहने के बाद वह पुनः बोली–"परन्तु बेटा, अब बुधिया को बेचने के सिवा हमारे पास उपाय ही क्या रह गया है? तुम्हारे प्राणों से तो बुधिया के प्राणों का मूल्य अधिक है नहीं। जब कल ज़मींदार का आदमी तक़ाज़ा लेकर आयगा, तब उसे क्या उत्तर दोगे? बुधिया को न बेचोगो तो क्या करोगे?

"क्या करूँगा अम्मा?" जुम्मन ने टूटे हुए हृदय से उत्तर दिया।

वह रात जुम्मन के लिये पहाड़ हो गई। न उसके हृदय में शान्ति थी; न आँखों में नींद! रह रह कर उसके सामने बुधिया का पुराना इतिहास चक्कर काटने लगता था। रह रह कर उसकी आँखों में वे दिन झूलने लगते थे, जब वह उसका मीठा–मीठा दूध पीता था, ताज़ा ताज़ा मक्खन खाता था, घण्टों उसके साथ खेलता था, सवेरे सवेरे उसे हाँकने के लिये उसके पीछे पीछे दूर तक उछलता कूदता चला जाता था, और शाम होते होते बड़ी बेचैनी से उसके लौटने के मार्ग की ओर ताका करता था। अतीत की सुखद स्मृतियाँ रह रह कर उसके टूटे हुए हृदय पर आघात करती थीं। कलेजे में एक हूक उठती थी, और वह धीमे स्वर में, तप्त उछवास छोड़ते हुए कह उठता था "हाय बुधिया! तू इसी दिन के लिये, इतने दिनों से इस शाप–ग्रस्त घर में बसेरा किए थी! हाय! तूने इसी दिन के लिये इस अधम को बरसों अपना दूध पिलाया था!"

दुसरे दिन का प्रातःकाल शायद जुम्मन के संसार का सब से कठोर प्रातःकाल था। वैतालिक रागिनी के सदृश शकूरन ने जुम्मन की तन्द्रा भङ्ग

की और उससे कहा " बेटा, मैं तुमारा क्लेश समझती हूँ। परन्तु कर्तव्य का पालन करने के लिये धीरज के साथ वेदना की ये चोटें सहनी ही पड़ेंगी। देर मत करो। देर करने से, आकाश से बरसती हुई यह आग तुम्हें और बुधिया को और भी जलायगी ! "

" या अल्लाह ! " कहकर जुम्मनने एक ठण्ढी साँस खींची। फिर एक दुध मुँहे बच्चे की नाईं उठा, और मरे हुए हाथों, बुधिया के गले में रस्सी बाँधकर, उसे बज़ार ले जाने के लिये तैयार हुआ।

शकूरन बुधिया के लिये दो मोटी मोटी रोटियाँ और एक कठौते में थोड़ा सा ठण्ढा पानी ले आई। परन्तु बुधिया की दिव्य आत्मा जैसे सारी परिस्थिति समझ रही थी। उसने न पानी में मुँह डाला न रोटियों की ओर देखा। वह केवल शकूरन की ओर देख रही थी, और उसके भोले भाले नेत्र जैसे उससे कह रहे थे " अब इस घर में क्या खाऊँ और क्या पिऊँ ! "

शकूरन ने देखा, जैसे बुधिया के बड़े बड़े नेत्रों में उदासी की घटाएँ घिर रही हैं।

शकूरन की आत्मा उद्वेलित हो उठी, और आखों में जल-बिन्दु लहराने लगे। बुधिया ! मेरी बुधिया ! कहते हुए उसने बुधिया के सिर पर हाथ फेरा। इसके साथ ही शकूरन का धीरज जाता रहा। वेदना की धारा हाहाकार करके प्रवाहित हो उठी। शकूरन अटकते हुए कण्ठ से " बुढ़िया ! मेरे सुख दुखः की साथिन !" कहकर बुधियाके गले से लिपट गई, और इस तरह विलाप करने लगी, जैसे कोई माता अपनी लाड़ली बेटी को सदा के लिये बिराने देश में भेज रही हो। हृदय के उस रोदन से बुधिया की आत्मा मिल गई, और वह भी चुपचाप शकूरन के साथ आंसू बहाने लगी।

बेचारा जुम्मन अब तक हृदय पर धीरज का पहाड़ रक्खे हुए चुपचाप खड़ा था, परन्तु नदी के समान बढ़ती हुई शोक की वह धारा देखकर, अब वह अपने को और अधिक न सँभाल सका। बुधिया के कन्धे पर सिर लटका

कर, फूट फूट कर रोने लगा। जब आँसुओं का वेग कुछ कम हुआ, तब "या अल्लाह! मेरे भाग्य में यह दिन देखना भी बदा था" कह कर, इस तरह आकाश की ओर ताकने लगा, जैसे उसके नेत्र वहाँ किसी खोई हुई वस्तु को ढूंढ़ रहे हों।

जब जुम्मन बुधिया के गले में बँधी हुई रस्सी को खींचते हुए आगे बढ़ा, तब शकूरन ने बड़ी आतुरता-पूर्वक कहा–"बेटा, मेरी बुधिया को ऐसे आदमी के हाथ बेचना, जहाँ बेचारी सुख से रह सके।"

"अम्मा! पागल तो नहीं हो! भला हड्डियों के इस ढाँचे को कसाई के सिवा कौन खरीदेगा?" कहता हुआ जुम्मन कुछ और आगे बढ़ा। इतने में उसके दोनों बच्चे न जाने कहाँ से वहाँ आ निकले। वे बुधिया से लिपट गए। अब जुम्मन बुधिया को आगे खींचता था, और बच्चे बार बार चिल्लाते-चीखते थे "अब्बा! हमारी बुधिया! अब्बा! हमारी! बुधिया!"

बूढ़ी बुधिया के पैर आगे नहीं बढ़ते थे। वह बार बार रँभाती और पीछे मुड़ मुड़ कर उस घर की ओर ताकती थी, जहाँ उसका जीवन बड़ी शान्ति से बीता था। मानों घर का प्रेम बुधिया के पैर आगे न उठने देता था, और उसकी करुणा भरी आँखें बार बार मूक वाणी में शरकून से प्रश्न करती थीं—"मुझे घर से बहार क्यों निकाल रही हो? क्या इस घर पर अब मेरा कुछ अधिकार नहीं रहा? मैंने तुम्हरा क्या अपराध किया है?"

बुधिया के ये भाव जुम्मन के कलेजे पर आरा चलाने लगे। वह लौट पड़ा और शकूरन से बोला—"अम्मा! अब नहीं सहा जाता। मेरी बुधिया मेरे हाथों कसाई की छुरी तले जाय–यह पाप मुझ से न हो सकेगा। अल्लाह अभी न जाने, किन गुनाहों की ये सज़ाएँ दे रहा है; अब यह गुनाह करूँगा, तो आक़बत में खुदा जाने, मेरी क्या गति होगी। क़र्ज चुके, चाहे न चुके।"

शकूरन ने सन्तोष की साँस लेकर कहा—"अच्छी बात है बेटा! बुधिया हमारी लक्ष्मी है, वह हमारे पास ही रहेगी। क़र्ज़ चुकाने के लिये यह घर बेच दो। हम किसी झाड़ के नीचे घास–फूस की छोटीसी झोंपड़ी बना लेंगे, और उसी में रहकर ज़िन्दगी के बाक़ी दिन काट देंगे।"

समस्या

रामदुलारी सवेरे सोकर उठी और बाहर आँगन में आई, तो उसकी नज़र एक ऐसी चीज़ पर पड़ी जो उसने अब से पहले शायद कभी न देखी थी। उसके हृदय में अचरज का भाव जागा और क्षण भर बाद ही घृणा के रूप में बदल गया। उसने सहसा मुँह फेर लिया और पति को पुकार कर कहा "ज़रा बाहर आओ; देखो तो, यह क्या है!'

भीतर से आवाज़ आई 'क्यों हैरान करती हो! आराम कर रहा हूँ।'

'आओगे भी या नहीं? लगे वहीं से बातें बनाने। भला यह भी आराम करने का कोई समय है!' रामदुलारी ने पुनः कहा।

'भई, तुम्हारे मारे तो आफ़त है। आराम से सो भी नहीं पाता।' कह-कर अँगड़ाइयाँ लेते और आँखें मलते हुए शिवदयाल पाँडे बाहर निकल आए। उन्होंने एक नज़र पत्नी के गोरे-गोरे मुखड़े पर डाली और मुस-किरा कर कहा—'सवेरे सवेरे जगा दिया! बतलाओ सरकार, कहाँ क्या है?

ज़रा-सी बात हुई नहीं कि डर जाती हो– काँप उठती हो !'

रामदुलारी कुछ मुसकिराई, कुछ झेंपी; फिर उसने 'वाह ! इसमें डरने काँपने की क्या बात ! वह देखो न, क्या मैं झूठ बोलती हूँ।' कहते कहते थोड़े फ़ासले पर पड़ी हुई किसी वस्तु की ओर उँगली उठा दी।

शिवदयाल अभी तक रामदुलारी का मुँह ताक रहे थे। अब उन्होंने एक बार फिर आँखें मलीं, उस वस्तु पर नज़र डाली और कहा–' अरे ! यह तो मांस का लोथड़ा है ! यहाँ कहाँ से आया ? कैसे आया ? जान पड़ता है, यह हमीद की शरारत है, रातको उसी ने फेंका होगा।'

हमीद, पाँड़ेजी का पड़ौसी था। पड़ौसी भी ऐसा--वैसा नहीं, उसका घर पाँडेजी के घर से लगा हुआ था। वह दोनों आज के पड़ौसी नहीं थे। उनके बाप दादे भी इन्हीं घरों में जीवन के खेल खेल चुके थे। उनमें आपसी घरोपा भी खूब था। हमेशा उठना बैठना चलता रहता था। वह एक–दूसरे के सुख–दुखमें शरीक होना भी खूब जानते थे। पाँडेजी के बाप दादे अपना धर्म मानते थे, हमीद के बाप–दादे अपना। दोनों अपने अपने धर्म के पाबन्द थे। पर, धर्म को लेकर उनमें कभी वहस न होती थी, मन--मुटाव की तो बात ही क्या ! शिवदयाल और हमीद भी बाप-दादों की उस पवित्र बान को बराबर निभाते आ रहे थे। दोनों बचपन के साथी थे, एक साथ खेले–कूदे थे, एक साथ सयाने हुए थे। आपस में खूब मुहब्बत थी। लड़ना–भिड़ना कैसा होता है, यह उन्होंने जाना भी न था। रामदुलारी बरसों से उनका यह प्रेम-भाव देखती आ रही थी। पति की बात सुनकर उसे अचरज–सा हुआ।

पत्नी के मुंह पर अचरज की छाप देखी, तो पाँडेजी ज़रा ज़ोर देकर बोले–' शायद मेरा अनुमान ग़लत नहीं है।'

'क्यों, क्या यह लोथड़ा बिल्ली नहीं ला सकती ? हमीद तो अपने पड़ौसी हैं। वह ऐसा गन्दा काम क्यों करेंगे ? और तो उन्होंने कभी ऐसा

नहीं किया।' रामदुलारी ने सुरीले गले से कहा।

'सम्भव है, बिल्ली ही यह लोथड़ा लाई हो–सम्भव है, यह हमीद की ही करामत हो।' पाँडेजी ने घृणा-पूर्वक उस लोथड़े की ओर देखते हुए कहा।

रामदुलारी बोली–'फिर वही बात। तुम अपने पड़ौसी पर सन्देह क्यों करते हो?'

पांडेजी बोले–'सन्देह तो न करना चाहिए; परन्तु सन्देह करने का कारण है। आजकल मुझ में और हमीद में वह प्रेम भाव नहीं रहा। भला आदमी एकदम खिंचा-सा दिखाई देता है!'

रामदुलारी के भोले मुखड़े पर फिर अचरज का भाव झलक उठा। आँखों ने अविश्वास के साथ पति की ओर देखा और जीभ ने कहा 'खूब! लड़ाई झगड़ा कुछ हुआ नहीं और हमीद खिंचे खिंचे रहने लगे। पड़ौस में तो ऐसा न होना चाहिए। यदि पड़ौस में प्रेम न हो, तो जीवन में आनन्द ही क्या रहे! आखिर हमीद तुमसे बुरा क्यों मान गए?'

'क्या बतलाऊँ शामू की मा, हमरा दुर्भाग्य है, और क्या! आजकल कुछ लोग ऐसे ऐसे मन्सूबे बाँधने लगे हैं कि बस, न पूछो। हिन्दुओं पर एक सनक सवार है, वह सब मुसलमानों को शुद्ध कर हिन्दू बना लेना चाहते हैं; मुसलमानों पर यह खब्त सवार है कि सब हिन्दू चोटी छँटवाकर कलमा पढ़ें और हमारी जमात में शामिल हो जायँ। हिन्दू सोचते हैं–हिदूस्तान हिन्दुओं का है, उसमें हिन्दुओं का ही राज होना चाहिए। मुसलमान कहते हैं–हम हिंन्दुओं के राज में क्यों रहने चले! मज़े से अपना पाकिस्तान बनावेंगे और उसी में चैन की बन्सी बजावेंगे।'

'ये पागलपन की बाते हैं–मेरी समझ में नहीं आतीं। क्या हम लोग इस घर में न रहने पायँगे? क्या हमीद भी अपना घर छोड़कर और कहीं चले जायँगे?'

'अरे नहीं ! हम लोग अपने इसी घर में रहेंगे। हमीद भी अपना घर छोड़कर कहीं जाने वाला नहीं।'

'क्या हमीद ये बातें नहीं जानते ?'

'जानता क्यों नहीं ! परन्तु जो जानते हुए भी बहक जाय, उसके लिये क्या उपाय ? मुल्ला गुलाम हुसैन ने कम्बख्त को ऐसी पट्टी पढ़ाई है कि वह सोते–जागते, उठते–बैठते और चलते-फिरते एक ही सपना देखा करता है। एक बारगी सब हिन्दुओं को मुसलमान बनाने और पाकिस्तान क़ायम करने के लिये वह बेचैन हो उठा है।'

'उफ़, यह तो बहुत बुरी बात है। साफ़ क्यों नहीं कहते कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक गहरे गढ़े में गिरने जा रहे हैं। ये लोग इतना भी नहीं सोचते कि न सब हिन्दू मुसलमान हो सकते हैं ! और न सब मुसलमान हिन्दू। अब हिन्दुस्तान में न हिंन्दुओं का राज हो सकता है और न मुसलमानों का।' कहते कहते रामदुलारी कुछ सोचने लगी। क्षण-भर बाद बोली– 'पर, तुम हमीद को तो इस गढ़े में गिरने से रोक सकते थे। तुमने उसे समझाया क्यों नहीं ?'

पाँडेजी ने उत्तर दिया– 'समझाया क्यों नहीं ! समझाने का ही तो यह नतीजा है कि वह मुझसे तन गया। श्यामू की मा, धार्मिक कट्टरता एक तीखी शराब है, उसे पीकर आदमी बिल्कुल सिड़ी-बिल्कुल पागल हो जाता है, फिर उसमें सोचने-समझने की बुद्धि नहीं रह जाती। उसी की झोंक में हमीद एक दिन मुझसे बोला– 'शिब्बू दादा, पाकिस्तान क़ायम होने वाला है। मुसलमान बन जाओ न ? तुम्हारे उस मुर्दा हिन्दू धरम में क्या रक्खा है ?' मुझे उसकी यह बात सुनकर हँसी आ गई। मैंने कहा– 'हमीद, पागल तो नहीं हो गए ? भैया, होश की बातें करो। जैसे अब तक होश में रहे हो, वैसे ही हमेशा बने रहो।' इस पर उसने जवाब दिया– 'मैं होश में हूँ दादा, और ठीक ही कह रहा हूँ। यकीन न हो,

तो कलमा पढ़कर देख लो। हाथ कङ्गन को आरसी क्या! रग-रग में बिजली चमक उठे, तो सही।' तब मैंने उसे समझाया– 'मज़हबी जोश ने तुम्हारी बुद्धि पर अज्ञान का परदा डाल दिया है। अगर मैं तुम से कहूँ कि तुम हिन्दू क्यों नहीं हो जाते, तुम्हारे मुसलमानी मज़हब में धरा ही क्या है, तो तुम्हें बुरा लगेगा या नहीं? यही बात और लोगों के बारे में भी समझनी चाहिए। पर, मैं तुम्हारे मज़हब की बुराई नहीं करता। तुम्हें भी मेरे मज़हब की बुराई न करनी चाहिए। पाकिस्तान क़ायम हो, चाहे न हो; तुम अपना यह घर-द्वार लेकर अन्यत्र तो जा नहीं सकते। इसलिये बेहतर है कि हम लोग जिस प्रकार आज तक भाई–भाई के समान रहते आए हैं, आगे भी उसी तरह रहें। तुम अपने मज़हब पर मुहब्बत करो, मैं अपने धर्म पर प्यार करूँ। मज़हब या पाकिस्तान के सवाल को लेकर आपस में बुराई करने और लड़ने-झगड़ने से न तुम्हें फ़ायदा होगा, न मुझे।' इस प्रकार मैंने तो उससे रास्ते की बात कही, पर वह ऐंठ गया। उस दिन से मुझ से बोलता भी नहीं। मैंने भी सोच लिया है कि फ़िलहाल इस मज़हबी दीवाने को छेड़ना ठीक नहीं। जब नशा उतरेगा, तो नालायक़ आप ही रास्ते पर आजायगा।'

'वाहरे आदमी! ऐसी अच्छी बात पर भी ऐंठ गया! मैं तो अब तक यही समझती थी कि हमीद एक भला और समझदार आदमी है। परन्तु इतने से यह विश्वास तो नहीं करना चाहिए कि यह नीचता भी उसी ने की होगी।' कहते-कहते रामदुलारी ने पाँडेजी की ओर देखा, और फिर थोड़ा–सा हँस दिया।

'पर, मैं अनुमान की बात कह रहा हूँ, विश्वास की नहीं।' कहकर पाँडेजी भी हँस पड़े।

गन्दी जगह भङ्गी से साफ़ करा दी गई। परन्तु दूसरे दिन फिर वहाँ लोथड़ा पड़ा पाया गया और तीसरे दिन तो आँगन–भर में हड्डियाँ–ही-

हड्डियाँ बिखरी हुई थीं।

मछली के भी पित्ता होता है, फिर आदमी तो आदमी ही ठहरा। रामदुलारी के हृदय की किसी तह में पड़ा हुआ क्रोध दियासलाई के समान जल उठा। उसने पाँडेजी से कहा– 'भई, रोज़-रोज़ का यह मलेच्छपन तो अब नहीं सहा जाता। उस नादान से–उस अभागे से जाकर कहो कि तुमने किसी हिन्दू को मुसलमान बनाने का यह तरीक़ा कहाँ से सीखा? इससे तो दो हृदय दूर ही दूर होंगे।'

पाँडेजी ने मुसकिराकर उत्तर दिया– 'पर तुम हमीद पर सन्देह क्यों करती हो? कहीं वह सारा पाप बिल्ली के सर थोप कर अलग हो गया। तो?'

'तुम्हें हँसने की सूझी है; यहाँ खाना–पीना हराम हो रहा है।' रामदुलारी के स्वर से घृणा, क्षोम और क्रोध के भाव फूटे पड़ते थे।

'हमीद एकबारगी इतना नीच हो गया है–अब सीधे रास्ते पर नहीं आ सकता!' पाँडेजी की आँखें सुर्ख़ हो गईं। वह दांत पीसते हुए उठे और लाठी लेकर दरवाज़े की ओर बढ़े।

'कहाँ जाते हो?' रामदुलारी ने झपटकर पाँडेजी का रास्ता रोक लिया और सवाल किया।

'हमीद को समझाने।'

लाठी की क्या ज़रुरत?

'बग़ैर इसके वह समझ नहीं सकता।'

इतनी–सी बात के लिये एक आदमी का ख़ून बहाओगे?'

'और उपाय ही क्या है?'

'है!'

'क्या?'

'उसे समझाकर देखो।'

'ख़ूब! श्यामू की मा, तुम नहीं जानतीं, वह पागल है–मज़हबी पागल।

एक बार अभागे से सीधी-सी बात कही थी–उसका नतीजा तीन दिन से देख ही रही हो।'

'फिर एक बार समझाओ। खूब मुहब्बत से समझाओ। पागल है, तो क्या हुआ; है तो आदमी ही।'

'तुम्हारे मारे आफ़त है श्यामू की मा!'

पाँडेजी ने लाठी फेंक दी। वह निहत्थे बाहर निकल गए और हमीद के दरवाज़े पर जा पहुँचे।

हमीद बरामदे में यों ही बैठा हुआ था। पाँडेजी को देखकर मुसकिरा उठा। पाँडेजी के शरीर में एड़ी से चोटी तक आग भभक उठी। वह धड़धड़ते हुए बरामदे में चले गए, हमीद के पास ही पड़ी हुई कुर्सी पर धम् से बैठ कर बोले– 'हमीद, यह क्या बात है? क्या तुम्हारी इन्सानियत एकदम सो गई है? क्या तुम्हारे प्रेम का सोता बिलकुल ही सूख गया है? जान पड़ता है, तुम्हारी आँखें हया और शर्म से बिलकुल ही फिर गई हैं। मज़हबी जोश ने जैसे तुम्हें बिलकुल ही गिरा दिया है।' पाँडेजी के स्वर से क्रोध की लपटें उठ रही थीं।

हमीद सहम उठा। क्षण-भर के लिये वह सन्नाटे के आलम में डूब गया। फिर सहसा उठकर वहाँ से जाने लगा। परन्तु पाँडेजी ने पलक मारते अपने मज़बूत हाथ से उसकी कलाई पकड़ ली और कहा– 'सीधे बैठ जाओ और मेरी बातों का जवाब दो।' उनके स्वर में एक प्रकार की कठोर उत्तेजना थी।

हमीद बैठते-बैठते बोला– 'शिब्बू दादा, मैंने किया ही क्या है?'

'यह अपने हृदय से पूंछो–अपनी इन बेशरम आँखों से पूंछो। क्या मेरे घर में मांस और हड्डियाँ फेंकने मे तुम्हें पाकिस्तान मिल जायगा? आख़िर तुम्हारी मंशा क्या है? अगर तुमने दोनों घरों को धूल में मिलाने की ही ठान ली है, तो वैसा कहो। शिवदयाल पाँडे इस तरह दबनेवाले

आसामी नहीं हैं।' पाँडेजी का सारा शरीर मारे क्रोध के थर-थर काँपने लगा।

इसी समय समय तञ्जीम कमेटी के प्रधान मन्त्री मुल्ला ग़ुलाम हुसैन न जाने कहाँ से वहां आ पहुँचे। उनको देखते ही हमीद मानों सोते से जाग उठा। कड़ककर बोला—'अगर शिवदयाल पाँडे दबनेवाले आसामी नहीं हैं, तो यहाँ हमीद भी डरनेवाले आदमियों में से नहीं है। थोड़ा सब्र कीजिए, कोई मौक़ा आने दीजिए। आपकी इस गर्मी का इम्तेहान हो जायगा?'

'बड़ी ख़ुशी की बात है। परन्तु इतना कहे जाता हूँ कि आयन्दाह किसी क़िस्म की शरारत न हो, नहीं तो तुम जानना।' कहकर पाँडेजी लापरवाही से झूमते हुए चले गए।

परन्तु मुल्लाजी की बाछें खिली जा रही थीं। 'शाबास! इस्लाम को ऐसे ही बहादुर आदमियों की ज़रूरत है। इन काफ़िरों से ज़रा भी न दबना चाहिए। किए जाओ दोस्त ख़ूब शरारतें—ये हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।' कहते हुए उन्होंने हमीद को पींठ थपथपा दी। हमीद का चहरा दमक उठा।

'मगर यार, एक बड़ी ग़लती की। ऐसे मौक़े हमेशा नहीं मिलते। तुमने हाथ में आए हुए दुश्मन को सही सलामत निकल जाने दिया।' मुल्लाजी उसी लहजे में बोले।

'उफ़! सचमुच बड़ी ग़लती हो गई। इसका तो मैंने ख्याल ही नहीं किया था और आप भी याद दिलाने बैठे, तो कब? जब कि वह हाथ से निकल गया।' हमीद ने उत्तर दिया।

× × ×

आख़िर दशहरा आया। इस मौक़े पर मुसल्मानों और हिन्दुओं ने अपने अपने दिल का बुख़ार निकालने की भरपूर कोशिश की। यद्यपि पुलिस की सावधानी से दङ्गे की आग ज़ोर न पकड़ सकी, तथापि शिवदयाल पाँडे और हमीद का मन-मुटाव पहले से भी ज़्यादह बढ़ गया। पाँडेजी पर

नज़र पड़ते ही हमीद मुँह फेर लेता और हमीद को देखते ही पाँडेजी रास्ता काटकर निकल जाते। इस प्रकार दोनों पास पास रहते हुवे भी दूर–बहुत दूर जा पड़े।

इसके कुछ दिन बाद की बात है। पाँडेजी बैठकखाने में बैठे हुए अखबार देख रहे थे। रातके कोई आठ बजे होंगे। एकाएक रामदुलारी ने दबे पैरों बैठकखाने में प्रवेश किया। परन्तु आँचल सँभालते संभालते हाथों की चूड़ियाँ खनक उठीं। पाँडेजी ने सर ऊपर उठाया और मुसकिराकर पूछा–' कहिए सरकार, क्या खबर है ? '

रामदुलारी झेंप–सी गई। फिर कुछ गम्भीर होकर बोली ' खबर तो काम की है। हमीद को वश में करने का बड़ा अच्छा मौका है। '

पाँडेजी के चेहरे पर घृणा का भाव आया। उन्होंने आँखें तरेरकर नीरस स्वर में कहा ' मेरे सामने उस पाजी का नाम न लो। अब उस आस्तीन के साँप को वश में करने की इच्छा नहीं रही ! '

' बस, तुम तो तनिक में आपे से बाहर हो जाते हो; न सुनते हो न समझते। '

' अच्छा लो, आपे में आया जाता हूँ। बतलाओ, तुमने हमीद को वश में करने के लिये कौन-सा वशीकरण मन्त्र ढूँढ़ निकाला है ? '

यह कहते कहते पाँडेजी हँस पडे।

रामदुलारी बोली–' हँसने की बात नहीं है। हमीद बहुत बीमार है। अभी-अभी उसकी पत्नी आई थी। कहती थी–अच्छन के अब्बा आठ रोज़ से बीमार हैं–खाट पर पड़े हैं। शरीर तवे के समान जल रहा है। बुखार उतरने का नाम नहीं लेता। घर में पैसे की कमी अलग है। बेचारी रोती थी। उसका फूल के समान खिला हुआ मुखड़ा मुरझा गया है। जान पड़ता है, जैसे इन आठ दिनों में उसने पेट भर खाना भी नहीं खाया है। मुझसे कहती थी– जीजी, अब तो इस मुसीबत में तुम्हारा ही

आसरा है; चाहे बचाओ, चाहे मारो।'

'बीमार है, तो मैं क्या करूं? अपनी जाति वालों के पास जावे, उनसे सहायता माँगे!'

'किसी के दुख दर्द में ऐसी बातें नहीं की जातीं।'

'खूब! मैंने कब उसकी सहायता नहीं की? पर उस पाजी ने मेरी नेकियों का जो बदला चुकाया है, वह तुम देख ही चुकी हो।'

'नेकी केवल नेकी के लिये की जाती है। फिर भलाई में तो सभी नेकी करने का दम भरते हैं। परन्तु मनुष्य बुराई में भी नेकी करते हैं।'

मैं तुमसे बहस नहीं करना चाहता। सीधी बात यह है कि मैं अब हमीद के काम नहीं आ सकता।'

'क्यों?'

'वह पाजी है–उसने मेरा दिल दुखाया है।'

'परन्तु उसकी पत्नी पाजी नहीं है–उसका अच्छन पाजी नहीं है। उन्होंने तुम्हारा दिल नहीं दुखाया। फिर भी तुम उनके काम नहीं आ सकते?'

'इतनी ज़िद्द क्यों कर रही हो?'

'मैंने उसे बचन दे दिया है।'

'मुझसे बिना ही पूंछो?'

'तुमसे पूंछने की आवश्यकता ही क्या थी? मेरी एक बहिन रो रही थी। उसके आँसू पोंछना मेरा कर्तव्य था।'

'तब क्या करने को कहती हो? श्यामू की माँ, तुम्हारे मारे बड़ी आफ़त है।'

'आफ़त क्या है, मेरी बात मानो। हमीद के यहाँ जाओ। उसकी पशुता सहानुभूति की छुरी से क़त्ल करो, उपकार के कफ़न में लपेटो और हमेशा के लिये कृतज्ञता की क़ब्र में सुला दो।'

फिर पाँडेजी ने कुछ नहीं कहा। वह कपडे पहिनकर हमीद के यहाँ चले गए। उस समय घर में पति–पत्नी में कुछ कहा–सुनी हो रही थी। पांडेजी स्वभावतः उनकी बातें सुनने लगे। हमीद कह रहा था–'अच्छन की अम्मा, शिब्बू दादा अब तक नहीं आए। मैंने तुमसे कहा था–तुम अपने आँसुओं से उनका हृदय धोना और उन्हें साथ लेकर ही आना। पर, तुमने यह कुछ न किया। आह! उनके बिना यह मुसीबत कैसे टलेगी!'

'ज़रा तो सब्र करो। अभी मुझे लौटे देर ही कितनी हुई है। जीजी का वादा झूठ नहीं हो सकता। फिर शिब्बू दादा तुम्हारे जैसे थोड़े ही हैं। एक औरत के आँसू उनका कलेजा मसले बिना नहीं रह सकते।' हमीद की बीबी बोली।

'सब्र क्या करूँ अच्छन की अम्मा! कहीं आज शिब्बू दादा से मुहब्बत होती, तो मैं इतने दिन तक खाट पर पड़ा रहता? बुरा हो उस बदमाश गुलाम हुसैन का–शैतान ने मुझे बरबाद कर दिया। खबर भिजवाए दो दिन हो गए, पर कम्बख्त को अब तक फ़ुर्सत न मिली।' कराहते-कराहते हमीद ने कहा।

पांडेजी ने सन्तोष की साँस ली और आवाज़ दी–'अच्छन–अच्छन!'

नन्हें–से अच्छन ने तुरन्त किवाड़ खोल दिए। हमीद की बीबी लम्बासा घूँघट खींचकर एक ओर हट गई। पांडेजी भीतर पहुँचे। कुर्सी पर बैठते बैठते उन्होंने पूछा–'हमीद! कैसी तबीयत है?

हमीद की आँखें उमड़ आईं। वह रोने लगा और बोला "दादा! मेरा कुसूर माफ़ करो!'

'पहले अच्छे हो जाओ, फिर ये बातें करना। अभी तो तबीयत का हाल बतलाओ।' पाँडेजी ने सहानुभूति के स्वर में कहा।

'आठ दिन हो गए, बुखार दुश्मन होकर पीछे पड़ा है। मारे दर्द के

हड्डी–हड्डी टूटी जा रही है, सर फटा जा रहा है; न पड़े चैन है, न बैठे। दादा, मुझे बचा लो। अगर अच्छा हो गया, तो ताज़ीस्त तुम्हारा गुलाम होकर रहूंगा।' कराहते-कराहते हमीद ने उत्तर दिया।

'डॉक्टर को नहीं बुलाया?'

'कौन बुलाने जाता?'

'मुल्ला गुलाम हुसैन नहीं आए?'

'दादा, उस बदमाश का ज़िक्र न करो।'

'तो मुझे ही ख़बर दी होती।'

'मैं इस लायक़ रहा ही कहाँ!'

'अच्छा, मैं जाता हूं, डॉक्टर भागवत को बुलाए लाता हूं। भगवान् चाहेंगे, तो भला ही होगा। हिन्दुस्तान के हिन्दू डॉक्टर की दवा तो पी सकोगे न?'

'दादा, इस तरह शर्मिन्दा न करो। मैं तुम्हारा छोटा भाई हूं।'

पँडेजी डॉक्टर को लेने चले गए।

'मुझे शिब्बू दादा से ऐसी उम्मद न थी!'–हमीद ने कहा–'आज मलूम हुआ, वह आदमी नहीं, देवता हैं। अच्छन की अम्मा, यक़ीन करो; मैं अच्छा हो गया। शिब्बू दादा को यहाँ देखते ही मेरी आधी बीमारी रफ़ा हो गई। बाक़ी भी दो-चार दिन में रफ़ा हो जायगी।' उसके चेहरे पर सुखका धीमा प्रकाश और कण्ठ में आत्मा का उल्लास झलक उठा।

अच्छन की अम्मा के हृदय पर रक्खा हुआ बोझ सहसा हट गया। उसने एक सुख की साँस ली। फिर वह ताने भरे स्वर में बोली–'कहाँ है तुम्हारा वह पाकिस्तान? एकाध हिन्दू को मुसलमान ही बना लिया होता। मुल्लाजी यह हाल सुनेंगे, तो क्या कहेंगे?'

हमीद के मुँह से बात न निकली। वह कातर दृष्टि से अच्छन की अम्मा की ओर देखता रह गया।

अच्छन की अम्मा ने क्षण भर रुककर कहा—' तुमने अच्छे-भले में नाहक उनका दिल दुखाया। मैंने तुम्हें कितना समझाया कि इन वाहियात झगड़ों में क्या धरा है,—इनसे कुछ नफ़ा हसिल न होगा, लुच्चे लफ़ंगे लोंगों की बात जाने दो, इस तू तू मैं मैं से न पाकिस्तान मिलेगा, न कोई शरीफ़ हिन्दू ही मुसल्मान बनेगा। मगर तुम पर तो एक भूत सवार था। मैंने कितने बार कहा कि पड़ौसियों से वैर बिसाह कर कभी किसी ने फ़ायदा नहीं उठाया। दुख–दर्द में पहले पड़ौसी ही शामिल होंगे। घर में आग लगेगी, तो पहले पड़ौसी ही उसे बुझाने दौड़ेंगे, और हुआ भी यही। न मुल्लाजी काम आए, न तंज़ीम, तब्लीग़ और पाकिस्तान वालों ने ख़बर ली। काम आए, तो पड़ौसी शिब्बू दादा।'

हमीद एक ठण्डी साँस लेकर बोला 'सच है अच्छन की अम्मा! ख़ुदा इन मौलवी–मुल्लाओं को ग़ारत करे। ये अच्छे-भले इन्सान को शैतान बनाया करते हैं। आह! अगर कहीं ये आदमी को आदमी बनाने की कोशिश करते, तो वहिश्त इसी दुनिया में उतर आता।'

लोहे की बेड़ियोंसे अधिक दृढ़

आजसे लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व की बात है। गर्मी की ऋतु थी। अब सन्ध्या के आगमन में अधिक विलम्ब नहीं था। दिन–भर के हारे थके पक्षी धीरे-धीरे बसेरों की ओर उड़े जा रहे थे। ऐसे ही समय में कोशल के राज-भवन से एक रमणी बाहर निकली। आयु उसकी लग-भग तीस वर्ष रही होगी, रंग तपे हुए स्वर्ण के सदृश, शरीर हृष्ट-पुष्ट, गैरिक रेशमी वस्त्रों तथा पुष्पाभूषणों से सुसज्जित। मुख–मण्डल पर आभा विकसित हो रही थी। उसके रूप-रंग और उसकी चाल-ढाल से ऐसा प्रतीत होता था, जैसे वह रमणियों में देवी हो।

रमणी मन्थर गति से आगे बढ़ी और राज–भवन से लगी हुई वाटिका के मध्य में बने हुए, मर्मर पत्थर के एक सुन्दर चबूतरे पर जा बैठी। वाटिका में मन–प्राणों का ताप हर लेने वाली गुलाबी शीतलता

थी। पुष्प-पराग-मिश्रित वायु धीरे-धीरे लहरें मार रही थी। चबूतरे पर बैठते-बैठते रमणी ने सुख की एक साँस ली। फिर चारों ओर दृष्टि घुमाते हुए आप ही आप कहा-'कितनी सुहावनी सन्ध्या है यह!'

इतने में वहाँ एक स्त्री और आ पहुँची। उसके हाथों में एक सुन्दर वीणा थी। उसने वीणा धीरे-से चबूतरे पर रख दी। फिर वह हाथ बाँध, सर झुकाकर एक ओर खड़ी हो रही।

'मालती,'-चबूतरे पर बैठी हुई रमणी धीरे-से बोली-'अब तुम जाओ। कुछ समय बाद आ जाना। मैं यहाँ एकान्त शान्ति में क्षण-भर मनोरंजन करूँगी।'

'स्वामिनी की जैसी आज्ञा!'-कह कर मालती वहाँ से चली गई।

'कितना अद्भुत यन्त्र है यह। इसके तारों में स्वर नहीं, जादू भरा हुआ है; जो मनुष्य को क्षण-भर में यातना के संसार से उठाकर आनन्द के स्वर्ग में पहुँचा देता है।'-कहते-कहते रमणी ने वीणा संभाली। उसके तार झनझना उठे और रमणी के कलित कण्ठ से निकलने वाली मादकता वाटिका के कोने-कोने में कूकने लगी।

इसी समय वाटिका में एक युवक ने प्रवेश किया। आयु उसकी पैंतीस वर्ष से ऊपर ही रही होगी; गौर वर्ण, ऊँचा कद, सुगठित शरीर, आजानु बाहु, बड़ी-बड़ी पानीदार आँखें, ऐंठी हुई विशाल मूछें और तेजस्वी मुख-मुद्रा। रमणी का व्यापार देखकर पहले तो वह कुछ ठिठका, फिर दबे पाँव, कुंजों और वृक्षावलियों की ओट लेता हुआ, चबूतरे के पास आकर इस प्रकार खड़ा हो रहा, जिस से उस पर रमणी की दृष्टि न पड़ सके।

रमणी की चम्पक-कलियों जैसी उँगलियाँ तारों पर थिरक रही थीं और वह अपने गान में डूबी हुई थी। गान प्रेम-रस से भीगा हुआ था, जिसका भाव था-प्रियतम! हम-तुम एक हैं। यह तो विधाता का कौशल है, जो हम संसार को दो रूपों में दिखाई देते हैं। अहा! यदि हम पक्षी

होते, तो इस कोलाहल-मय संसार से दूर किसी हरे-भरे उपवन में एक वृक्ष पर अपना घोंसला बनाते। प्रकृति की गोद में अठखेलियाँ करते, एक साथ दाना चुगते और एक साथ उन्मुक्त आकाश में स्वच्छन्द विचरण करते। जीवन-यापन की चिन्ताएँ हम से दूर रहतीं और तब मैं केवल तुम्हें निहारा करती, तुम केवल मुझे देखा करते। अहा! वह जीवन कितना स्वतन्त्र, कितना स्नेह-मय और कितना आनन्द-पूर्ण होता!

युवक पर जैसे किसी ने जादू की छड़ी घुमा दी। गान की एक-एक तान उसके हृदय में घर कर रही थी और उसकी श्वासों का एक-एक स्पन्दन स्वर-लहरी में डूबा जा रहा था। वह मूर्ति के समान अचल था, मानों अपने अस्तित्व को गान के अस्तित्व से एकाकार कर रहा था।

गान पूर्ण हुआ। रमणी ने वीणा रखते-रखते सर घुमाया, तो उसकी दृष्टि युवक पर पड़ी। वह चौंक उठी, सकपकाकर खड़ी हो गई और कोमल स्वर में बोली-' महाराज को पधारे कितना विलम्ब हुआ?'

' प्रिये!'-युवक भावावेश में चबूतरे पर चढ़ते हुए बोला-' गाओ-गाओ, मेरे सुख-स्वप्न को भंग मत करो। तुम्हारे गान में कितनी मिठास है, कितनी शान्ति है, कितना सुख है! कितना ही सुनता रहूँ, पर सुनने को साध नहीं मिटती। तुम्हारा स्वर मुझे संसार के साम्राज्य से भी प्रिय है-अधिक प्रिय।' और चबूतरे पर पहुँचकर उसने अपना बायाँ हाथ रमणी के कन्धे पर रख दिया एवं दाहिने हाथ से उसकी ठोढ़ी ऊपर उठाते-उठाते कहा-' प्रिये। एक बार फिर वही गान सुनाओ। हृदय में कैसी अग्नि धधक रही थी, परन्तु तुम्हारे अमृतमय कण्ठ ने मानों उसपर शीतल जल की धारा उँड़ेल दी।' यह कह कर उसने मुसकिरा दिया और इसके बाद ही वह धम् से बैठ गया।

रमणी भी युवक के सामने बैठ गई और उसके दोनों हाथ अपने हाथों में लेती हुई बोली-आर्य! ' यह क्या कह रहे हो! आप के हृदय में

अग्नि धधक रही थी ! कैसी अग्नि धधक रही थी–क्यों धधक रही थी ?'
उसकी आँखों में जिज्ञासा की भावना थी और स्वर में घबराहट ।

'प्रिये !'–युवक ने अस्थिरता–पूर्वक कहा–'जाने दो उस बात को। जानने की तुम्हें आवश्यकता भी नहीं है । पर एक आनन्द–समाचार सुना सकता हूँ, जो तुम्हारे गान से कुछ–कुछ सम्बन्ध रखता है । पक्षी तो इस जीवन में हम हो नहीं सकते, पर वह समय शीघ्र आनेवाला है, जब हम जीवन की कितनी ही चिन्ताओं से मुक्त हो जायँगे और कदाचित् शान्ति से किसी हरे–भरे उपवन में भी रह सकेंगे ।' यह कह कर युवक मुसकिरा उठा । परन्तु उसके नेत्रों में प्रफुल्लता का अभाव था, और ललाट पर चिन्ता के बल थे; जैसे चलते हुए अश्व–शावक के मार्ग में नाला पड़ जाने से वह सोच–विचार में डूब गया हो ।

'नाथ !'–रमणी ने युवक के कन्धों पर अपने गुलाबी हाथ रख दिए, और उसकी आँखों में आँखें डालते हुए कहा–'यह कैसी सूखी मुसकान है । ऐसी मुसकान तो मैंने कभी आपके अधरों पर नहीं देखी । और ललाट पर ये रेखाएँ कहाँ से आईं ? अवश्य आपके हृदय में कोई गहरी चिन्ता हलचल मचा रही है । आप का यह आनन्द–समाचार भी रहस्य–पूर्ण है । मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ, अतएव—'

युवक बात काट कर बोला–'मेरा कष्ट देखते ही तुम्हारा हृदय दुर्बल हो जाता है, यही न ? विद्याधरी, यह तुम में बड़ा दोष है ! ज़रा–सी बात हुई, और तुम घबराईं । ऐसी अधीरता एक राज–रानी को शोभा नहीं देती। हम पुरुष हैं, संसार की सौ झंझटें हमारे पीछे लगी रहती हैं। ब्रह्मदत्त को जानती हो तुम ?'

'कौन ? काशी–नरेश ? सुना है कि उनका राज्य बहुत बड़ा है। उनके पास अगणित सेना और अपार सम्पत्ति है ।'

'परन्तु हृदय बहुत छोटा है । आज उनका दूत आया है ।'

'किस लिये ?'

'इसलिये कि मैं उनको सार्व-भौम सम्राट् स्वीकार करूँ, प्रति वर्ष कर दूँ और उनके आधिपत्य में एक माण्डलिक राजा के समान रहूँ।'

'और यदि आप यह सब स्वीकार न करें, तो ?'

'तो वह हम पर आक्रमण करेंगे और कौशल को युद्धाग्नि में भून डालेंगे।'

'परन्तु हमारा राज्य तो बहुत छोटा है, अत्यन्त निर्धन है। इससे उनको क्या लाभ होगा ?'

'उनके राज्य की सीमा कुछ तो बढ़ ही जायगी।'

'इतना राज्य, इतनी सम्पत्ति, इतना वैभव पाने पर भी यह तृष्णा !'

'तृष्णा अग्नि ही ऐसी है। राज्य, सम्पत्ति और वैभव की जितनी आहुतियाँ गिरेंगी, तृष्णा उतनी ही अधिक धधकेगी। सम्पूर्ण संसार प्राप्त होने पर भी तृष्णा तृप्त न होगी—उसके बाद ग्रह और नक्षत्र पाना चाहेगी।'

'धिक्कार है ऐसी तृष्णा पर।'—होंठ काटकर विद्याधरी बोली, और फिर गम्भीरता-पूर्वक कुछ सोचने लगी। क्षण-भर बाद ही उसने पूछा—आपने दूत को क्या उत्तर दिया ?'

'यही तो चिन्ता का विषय है ! अधीनता स्वीकार करता हूँ, तो मान जाता है, स्वाधीनता जाती है। ऐंठता हूँ, तो सर्वनाश होता है। क्या किया जाय, कुछ सूझ नहीं पड़ता।'

विद्याधरी ने युवक पर एक चुभती हुई दृष्टि डाली और तब बड़ी ही शान्ति से, बड़ी ही स्थिरता से कहा—'यदि मैं आपके स्थान पर होती, तो ऐंठ जाती, ब्रह्मदत्त का प्रस्ताव ठुकरा देती, सर्वनाश को स्वीकार करती, पर अपने मान को—अपनी स्वाधीनता को, प्राणों से लगाकर रखती।'

युवक चुप रहा, जैसे वह मनहीमन समस्या की उधेड़-बुन करने में

व्यस्त हो गया। उसकी अवस्था उस विद्यार्थी के समान हो रही थी, जो प्रश्न हल करने में असमर्थ होता है, पर गुरु के भय से अपनी निर्बलता प्रकट नहीं कर सकता। क्षण-भर सन्नाटा छाया रहा। तब विद्याधरी ने यह कहते हुए वह मृत शान्ति भंग कर दी–'क्या आप युद्ध से डरते हैं?'

'मैं युद्ध से डरना तो नहीं जानता, पर इतना अवश्य जानता हूँ कि वह मानवता के लिये घोर अभिशाप है।'

'परन्तु पराधीनता उससे भी बढ़कर घोर अभिशाप है और घृणित से घृणित पाप।'

युवक का उदास मुख और भी उदास हो गया, जैसे ग्रीष्म का मध्याह्न कालीन पुष्प। उसने काँपती हुई ध्वनि में कहा–'विद्याधरी, तुम दीधित की पत्नी हो!'

विद्याधरी का मुखड़ा प्रदीप्त हो उठा, जैसे सन्ध्या–कालीन दीपक। उसने कण्ठ में दृढ़ता भर कर कहा–'और आप विद्याधरी के पति हैं।'

× × ×

उसका नाम अभय था। कुम्हार का धन्धा उसकी जीविका का आधार था। तीन–चार वर्ष हुए, वह बाहर से आकर काशी में रहने लगा था। पर, इतने ही समय में काशी की एक–एक गली के लोक उसे जानने लगे थे। ऊँचा-पूरा शरीर, गोरा रंग, बड़े-बड़े चमकीले नेत्र, आकर्षक मुख–मुद्रा, मुसकान से भरे हुए अधर, मीठी वाणी आदि विशेषताओं से वह सभी के मन पर चढ़ गया था। नगर में उसकी प्रतीक्षा की जाती थी। लोग उससे बातें करने को उत्सुक रहते थे;। क्योंकि उसके कण्ठ से फूल झड़ते थे–ऐसे फूल, जो अनुभूति की गन्ध से महकते थे। स्त्रियाँ उससे बर्तन खरीदना चाहती थीं; क्योंकि उनमें कोई उसकी माता थी, कोई बहिन और कोई बेटी। मोल–भाव का उसके पास काम नहीं था। एक बात कह दी, ग्राहक की इच्छा, बर्तन खरीदे, चाहे न खरीदे। फलतः

नगर में पहुँचते ही अभय के बर्तन बिक जाते थे और उसे इतनी आय हो जाती थी कि दाल–रोटी का अभाव न रहता था।

अभय नगर के बाहर कुम्हारों के मुहल्ले में रहता था, जहाँ मूर्तिमती दीनता निवास करती थी। वहाँ वैभव नहीं था, तो ईर्ष्या और द्वेष का भी निर्वाह नहीं था। लोग झोपड़ियों में रहते थे, परन्तु सन्तोष और शान्ति के साथ। परस्पर की सहानुभूति और ममता--वृत्ति ने उनके चारों ओर एक मीठे सुख की सृष्टि कर रक्खी थी। जब अभय पहले--पहले उनके बीच में आया, तब सबने एक प्रिय अतिथि के सदृश उसका स्वागत किया, और जब उनको ज्ञात हुआ कि उसकी इच्छा यहीं रहने की है, तब सब अत्यन्त प्रसन्न हुए। वह उसको बसाने के लिये उत्साहित हो उठे। किसीने मिट्टी जमा की, किसीने पानी ढोया, किसीने लकड़ियाँ जुटाईं, तो कोई घास--पात ही बटोर लाया। बस, एक छोटी–सी साफ़-सुथरी झोंपड़ी तैयार हो गई और अभय आनन्द-पूर्वक उसमें रहने लगा।

धीरे–धीरे अभय ने लोगों के हृदयों में भी घर कर लिया। प्रति दिन सन्ध्या के पश्चात् जब रजनी अपनी चादर से संसार को ढाँक देती, और चारों ओर निस्तब्धता छा जाती, तब पुरा–पड़ौस के दस पाँच प्राणी ब्यालू से निवृत्त होकर अभय के पास आ बैठते, और फिर घण्टों अनेक विषयों पर टीका–टिप्पाणी होती रहती। एक दिन बातों--ही-बातों में एक कुम्हार बोला–'संसार में इतने प्राणी हैं, तब समझ में नहीं आता कि ईश्वर ने हमें मनुष्य के चोले में क्यों उत्पन्न किया? यदि मनुष्य ही बनाने की इच्छा थी, तो यह निर्धनता हमारे पल्ले क्यों बाँध दी? बतलाओ, निर्धनता में क्या सुख है? दिन–भर हड्डियाँ घोलते हैं और सन्ध्या को रूखा–सूखा भी भर–पेट नहीं पाते। एक वह हैं, जो हाथ--पैर भी नहीं हिलाते, पर छप्पन भोजन और मक्खन की सेज पर सोते हैं। पूछो, उनको यह सुख कहाँ से प्राप्त हुआ? निर्धनों की ही कमाई से न! धन्य रे ईश्वर तेरा न्याय!'

अभय ने मुसकिरा कर कहा–'यदि तुम्हें ढेर–की–ढेर सम्पत्ति या विशाल राज्य मिल जाय, तो क्या होगा–जानते हो ?'

सब लोग उत्सुक दृष्टि से अभय की ओर ताकने लगे। अभय उसी लहजे में कहता गया–'तब तुम आज की अपेक्षा भी निर्धन हो जाओगे। लोभ तुम्हारे हृदय में हाहाकार कर जाग उठेगा। शान्ति तुम से दूर जा पड़ेगी। आठ पहर चौंसठ घड़ी एक ही असन्तोप तुम्हें पीड़ित किया करेगा–हमारी सम्पत्ति की और वृद्धि कैसे हो सकती है ? वह असन्तोष तुम्हारे विवेक पर–तुम्हारी बुद्धि पर अज्ञान का काला पर्दा डाल देगा, और तब तुम निर्धनों का एक–एक तिल लूटने के लिये बिलकुल निर्दय–बिलकुल निर्मम बन बैठोगे। इतने पर भी एक चिन्ता तुम्हें कभी सुख की नींद न सोने देगी–हमारा धन कैसे सुरक्षित रह सकता है ?'

दूसरा कुम्हार बीच में ही बोल उठा–'सत्य है ! इससे तो हमारी निर्धनता ही भली ! उसमें ये पाप तो नहीं हैं। अपनी नींद सोते हैं, अपनी नींद जागते हैं। न ऊधव का लेना, न माधव का देना।'

इस प्रकार अभय ने अन्य स्थानीय होने पर भी उन लोगों से अत्यधिक सामीप्य प्राप्त कर लिया था। वह उन में इतना घुल–मिल गया था, मानों उनका कोई आत्मीय हो। स्वयं अभय का परिवार बहुत बड़ा नहीं था, उसमें अभय के सिवा दो जन और थे–एक उसकी हीरे–सी पत्नी, और दूसरा उसका फूल–सा बच्चा। ये दोनों प्राणी अभय के दो नेत्र थे। पत्नी उसकी शान्ति थी और बच्चा उसका आनन्द। फिर भी वह कभी–कभी उदास हो उठता था, मानों उसके हृदय में छिपे हुए दुःख और शोक की घटाएँ मुख–मण्डल पर आकर झलक मारने लगती थीं, और तब वह एक ओर शिथिल–सा बैठ जाता, एवं न जानें क्या–क्या सोचने लगता था। उस समय पत्नी उसके पास जा बैठती और वाणी में अपने हृदय का समस्त स्नेह बटोर कर उससे पूंछने लगती–'क्या सोच रहे हो ?'

'सोच क्या रहा हूँ,'--अभय टूटे हुए स्वर से उत्तर देता--'विगत जीवन से वर्तमान जीवन की तुलना कर रहा हूँ। दोनों में कितना महान् अन्तर है! वह जीवन कितना श्रेष्ठ! यह जीवन कितना पतित है! परंतु कभी-कभी यह भी प्रतीत होता है कि उस जीवन से यही जीवन श्रेष्ठ है।'

'अवश्य श्रेष्ठ है!'--पत्नी अपने कण्ठ में गम्भीर स्वर भर कर कहती--'उस जीवन में कितनी अपूर्णता थी! यह हमें नित्य पूर्णता की ओर लिए जा रहा है। तब की और अब की अनुभूतियों में कितना अन्तर है! उस समय हम संसार में रहते हुए भी संसार से अपरिचित-से थे और आज उसके वास्तविक रूप का दर्शन कर रहे हैं।'

'परन्तु'--अभय हताश स्वर से बोल उठता--'दीर्घायु-हमारा यह अबोध लाल! इसके भविष्य की चिन्ता से मेरे नेत्रों में अँधेरा छा जाता है।'

'यह चिन्ता व्यर्थ है। हम दीर्घायु के भाग्य-नियन्ता नहीं हैं। हमारा कर्तव्य इसे मनुष्य बना देना है। फिर संसार में यह अपने पथ का निर्माण स्वयं कर लेगा।' कह कर पत्नी अभय को तथा अपने आप को सान्त्वना देने की चेष्ट करती; परन्तु उसके नेत्रों में जल भर आता, और कण्ठ में आकर जैसे कोई वस्तु अटक जाती। वह सकरुण दृष्टि से पति की ओर ताकने लगती।

अपने छोड़े हुए बाण का यह परिणाम देख, अभय के हृदय को जैसे कोई डँस लेता, और तब वह तुरन्त दूसरी बात छेड़ देता, मानों पत्नी के चुटीले हृदय को सुहलाने की चेष्टा करने लगता।

एक दिन की बात है। अभय झोंपड़ी के सामनेवाले नीम के वृक्ष की छाया में अपने कार्य में व्यस्त था। चाक वेग से घूम रहा था, और अभय के कुशल हाथ गीली मिट्टी को बर्तनों के रूप में ढाल कर भूमि पर रखते जाते थे। थोड़े ही अन्तर पर उसकी पत्नी मिट्टी सान रही थी। दीर्घायु वृक्ष की टहनी के सहारे लटके हुए झूले में चुपचाप सो रहा था।

गर्मी की ऋतु थी। अन्नवायु में प्रभात-कालीन शीतलता का अभाव हो गया था, और उसके स्थान पर उष्णता शनै-शनै तीव्र हो रही थी। उस कोमल नारी को वह श्रम असह्य हो उठा। उसके ललाट पर श्रमकण झलझला आए। वह उठी, हाथ धोकर एक स्थान पर घनी-सी छाया में बैठ गई, और अपने अञ्चल को हिला-हिलाकर शारीरिक क्लान्ति मिटाने की चेष्टा करने लगी।

अभय ने भी चाक रोक दिया। वह पत्नी के पास आ बैठा और उसकी ओर विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखकर बोला-'बतलाओ, इस झोंपड़ी में क्या सुख है?'

पत्नी ने उत्तर दिया-'तुम्हीं बतलाओ, दुःख क्या है? मैं तो यही जानती हूँ कि इस झोंपड़ी में प्रेम का वास है और सदा शान्ति विराजती है। प्रेम जीवन का रस है और शान्ति जीवन की मूल अभिलाषा।' उसके कण्ठ में अभिमान था, अधरों पर मुसकिराहट और नेत्रों में स्नेह की झलक।

अभय अवाक् हो रहा। आश्चर्य से पत्नी की ओर देखने लगा। क्षण-भर बाद बोला-'रहने के लिये दो हाथ की झोंपडी है। खाने के लिये रूखा-सूखा अन्न मिलता है। वस्त्र सदा मैले-कुचैले रहते हैं। साथी दीन-हीन और अशिक्षित हैं। क्या यही सब सुख की सामग्री है?'

'अवश्य है!'-पत्नी मानों अपने मित्र-पद का पालन करती हुई बोली-'और न भी हो, तो इस असन्तोष से लाभ? यदि सन्तोष हो, तो दो हाथ की झोंपड़ी, रूखा-सूखा अन्न और मैले-कुचैले वस्त्र ही परम सुख की सामग्री का काम दे देते हैं। किसी ने गिनती की है कि संसार के कितने मनुष्य इसी वातावरण में जन्म लेते, बड़े होते और मर जाते हैं! हम भी उन्हीं में सही। रहे ये दीन-हीन और अशिक्षित साथी, सो मैं तो इन पर अभिमान करती हूँ। ये दीन-हीन अवश्य हैं, पर हृदय के

कितने धनी, कैसे निस्पृही और विशुद्ध प्रेमी हैं। अशिक्षित हैं, पर शिक्षितों के समान विद्या, बुद्धि और ज्ञान की ओट में पापों को छिपाने की कला तो नहीं जानते। राज–भवनों में रहनेवाले मनुष्य इनकी क्या समता करेंगे, जो मनुष्यता से पहले नाता तोड़ते हैं, संसार में पीछे आते हैं।'

'उफ़! इतना परिवर्तन! हाय, दुःख के कठोर आघातों ने तुम्हारी सारी कोमल वृत्तियाँ चूर–चूर कर कर डालीं!' अभय सहानुभूति के स्वर में बोला।

'कहाँ! तुम्हारे साथ तो मैंने कभी दुःख का अनुभव किया नहीं। और फिर दुःख तो कोमल वृत्तियों को कोमल–तर बनाते हैं। तुम्हीं अपनी ओर देखो, पहले इतने उदार, इतने पर–दुःख–कातर और इतने प्रेमी कहाँ थे?' पत्नी ने सूखी हँसी हँसते हुए कहा।

अभय ने चारों ओर सर घुमाकर देखा। आस–पास दूर तक मनुष्य की छाया भी नहीं थी। वह पत्नी के मुख पर आँखें गड़ाकर एक ठण्ढी साँस लेते हुए बोला–'तो तुम्हें कभी कौशल का स्मरण नहीं आता विद्या?'

'हाय! कौशल क्या भूलने की वस्तु है महाराज! वह तो रक्त की एक–एक बूँद में समाया हुआ है। जहाँ राज–रानी बनकर रही, जहाँ वर्षों आप के साथ जीवन के सोनहले दिन व्यतीत हुए, वहाँ का स्मरण क्यों न आवेगा। दिन में न जानें कितने बार मन उड़कर वहाँ पहुँचता है।' कहते हुए विद्याधरी का कण्ठ भर आया और नेत्रों से कितने ही मुक्ता पतित होकर धरती में समा गए।

'प्रिये!'–विद्याधरी के नेत्र पोंछते हुए दीधित ने कहा–'अब इस वेदना से कोई लाभ नहीं। उफ़! कितना भयानक था वह युद्ध! अपने सैनिकोंने मृत्यु का तिरस्कार करते हुए जीवन उत्सर्ग कर दिए। परन्तु उतने प्राणों के मूल्य पर भी हम स्वतंत्रता को क्रय न कर सके, और आज शत्रु के घर में ही इस रूप में दिन काट रहे हैं। भाग्य की लीला! और क्या कहें!'

'जो हो, मनुष्य आपके नाम पर कायरता का कलंक तो न लगावेंगे ! राज्य-च्युत हुए तो क्या, मनुष्यता को तो हाथ से नहीं जाने दिया।'

'परन्तु ब्रह्मदत्त की तो विजय हो गई।'

'किस काम की ऐसी विजय ! न उसकी अभिलाषा पूर्ण हुई-न उसके हृदय की अग्नि बुझी।'

'सो कैसे ?'

'ब्रह्मदत्त ने आपको बन्दी करने के लिये जो एक लक्ष मुद्रा के पुरस्कार की घोषणा कर रक्खी है, उसका अभिप्राय क्या है ? यही तो कि आपने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की, जिससे उसकी विजय अधूरी रह गई। आप जैसे छोटे-से राजा ने राज्य खोकर भी उसे अपना सम्राट् नहीं माना, जिससे उसके मान और महत्त्व पर आघात पहुँचा, और अब वह प्रतिहिंसा की अग्नि में जल रहा है। आपके ही चरणों में मेरा साम्राज्य-मेरा सम्पूर्ण सुख है। ईश्वर आपकी रक्षा करें-इस जीवन की बस, इतनी ही साध रह गई है।'

इसके बाद विद्याधरी का कण्ठ पुनः भर आया। देर तक उसकी आँखों से आँसू बहते रहे। परन्तु ईश्वर ने उसकी साध पूरी नहीं की। कुछ वर्ष पश्चात्, जब कि दीधित काशी के राज-मार्गपर फेरी लगा रहा था, ब्रह्मदत्त के सैनिकों ने उसे बाँध लिया। वह फिर नहीं लौटा। विद्याधरी ने यह समाचार सुना, तो वह फूट-फूट कर रोने लगी। पुरा-पड़ौस के पुरुष आए, स्त्रियाँ आईं। सबने उसे आत्मीय भाव से सान्त्वना दी, परन्तु दुखियारी के दुःख-भार को हलका करने की क्षमता किस में थी ?

दूसरे दिन विद्याधरी की झोपड़ी सूनी पड़ी थी। कोई यह न जान सका कि वह अपने दीर्घायु को लेकर कहाँ चली गई।

× × ×

सहसा ब्रह्मदत्त की आँख खुल गई। बाहर कोई सुरीले कण्ठ से गा

रहा था। उसकी मधुर ध्वनि वायु की लहरों पर तैर-तैर कर आ रही थी। गान का एक-एक शब्द करुणा से भीगा हुआ था, जो कानों की राह से प्रवेश कर सीधा हृदय पर चोट करता था। ब्रह्मदत्त सुनते-सुनते अधीर हो उठा। उसने ज़ोर से आवाज़ दी-' प्रहरी!'

' आया प्रभो!'-कहकर प्रहरी उपस्थित हुआ और हाथ बाँधकर खड़ा हो रहा।

' अभी कितनी रात्रि शेष है?'

' महाराज, उषा की लालिमा से आकाश लोहित-वर्ण हो रहा है। अब प्रातःकाल होने में विशेष विलम्ब नहीं है।'

' यह कौन गा रहा है?'

' थोड़े दिन हुए, अश्व-शाला में एक युवक आया है। यह उसी की मनोहर कण्ठ-ध्वनि है।'

' उसे अविलम्ब मेरे सम्मुख उपस्थित करो।'

घड़ी-भर बाद ही गायक युवा राज-भवन में प्रस्तुत हुआ। आयु लगभग अठारह वर्ष, मसें भीगती हुईं, मुख-मुद्रा मोहक, स्वास्थ्य की आभा से ओत-प्रोत शरीर, परन्तु वस्त्रों से दीनता झाँक रही थी, मानों गुदड़ी का लाल हो। ब्रह्मदत्त ने उस पर एक पैनी दृष्टि डाली और फिर पूछा-' तुम्हें काशी में आए कितने दिन हुए?'

' दो मास से भी कम।'

' कहाँ से आए?'

' पाटलिपुत्र से।'

' अकेले हो, या साथ और भी कोई है?

' अकेला ही हूं महाराज। बहुत दिन हुए, माता-पिता अनाथ छोड़कर भगवान् की गोद में चले गए। इस संसार में मेरा कोई स्नेही-नातेदार भी नहीं। जीविका की चिन्ता में यहाँ चला आया और अब आपकी

अश्व–शाला में काम करता हूँ।' युवक का कण्ठा रुँध गया और उसके नेत्रों से कुछ अश्रु–बिन्दु धरती पर गिर पड़े।

'वत्स, अब दुखित होने की आवश्यकता नहीं!'–युवक की बात सुनकर ब्रह्मदत्त का हृदय पसीज उठा, और वह सहानुभूति–पूर्ण स्वर में बोला–'किसी के माता–पिता सदा जीवित नहीं रहते। तुम आनन्द–पूर्वक यहीं रहो। तुम्हारे गान से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। बोलो, क्या पुरस्कार चाहते हो?'

'मैं एक दीन बालक हूँ महाराज! पुरस्कार लेकर क्या करूँगा! दीन मनुष्य को दीन बनकर ही रहना चाहिए।'–युवक के हृदय में निस्पृहता थी, या अभिमान था–यह कौन जाने। परन्तु ये शब्द बोलते–बोलते उसके कपोलों की लालिमा गहरी अवश्य हो गई।

'तुम पुरस्कार नहीं चाहते?'–ब्रह्मदत्त ने नेत्र फाड़कर युवक को ताकते हुए कहा–'भला तुम्हारे न चाहने से क्या होता है! मैं सम्राट् हूँ। जिस पर प्रसन्न होता हूँ, उसे अवश्य पुरस्कृत करता हूँ। यही मेरा नियम है। अब तुम अश्व–शाला में नहीं रह सकते। तुम्हारा रूप-रंग भी वहाँ रहने योग्य नहीं। आज से तुम मेरे पार्श्वचर नियुक्त किए गए। परन्तु कभी–कभी अपना मीठा गाना तो सुना सकोगे न?'

'यह महाराज की कृपा है!'–कहकर युवक ने ब्रह्मदत्त की आँखों से आँखें मिलाईं। उसके गुलाबी कपोल एक बार पुनः लाल हो गए, और साथ ही शरीर काँप उठा। वह महाराज को प्रणाम कर धीरे–धीरे वहाँ से चला गया–मनो इस पद–वृद्धि ने उसे सोचने और विचारने की कुछ नवीन सामग्री दे दी हो।

'अद्भुत युवक है यह!'–ब्रह्मदत्त आप–ही–आप बोल उठा–'मैंने इतना बड़ा पद दे डाला, पर उस के मुँह पर हर्ष या कृतज्ञता की एक रेखा भी दिखाई न दी। कदाचित् वह पार्श्वचर के पद की महिमा से अनभिज्ञ है। तभी........

परन्तु युवक ने पहले ही दिन अपना काम इस प्रकार सँभाला, मानों वह वर्षों से उसका अभ्यस्त हो। जब वह अपने पद के अनुरूप वेश-भूषा से सुसज्जित हो दरबार में पहुँचा, तब उसका रूप खिल उठा-जैसे हीरा स्वर्ण में जड़ दिया गया हो। सभासदों ने उस पर कौतूहल-पूर्ण दृष्टि डाली और आप-ही-आप कहा 'देवकुमार के सदृश यह कौन है?'

युवक ने इतना बड़ा पद पाया तो सही, पर उस में जो गम्भीरता पहले दिन दिखाई दी थी, वह अब और भी बढ़ गई थी। उसके अधरों पर मुसकान तो शायद ही कभी खिल्ती थी। वह लोगों से बहुत कम मिलता-जुल्ता था, आवश्यकता से अधिक न बोलता, सदा अपने काम-से-काम रखता, ऐसा प्रतीत होता, जैसे भीतर-ही-भीतर किसी गम्भीर प्रश्न की विवेचेना में व्यस्त रहता हो। उसके इस आचरण को कोई गम्भीरता समझता था, कोई उदासीनता का लक्षण मानता था, तो कोई मूर्खता, नीरसता अथवा अभिमान का चिन्ह। परन्तु ब्रह्मदत्त उसकी कार्य-कुशलता पर मुग्ध था। अतएव वह दिनों दिन ब्रह्मदत्त के समीप होता जाता था।

एक दिन ब्रह्मदत्त आखेट करने गया। वन में पहुँचने पर सब लोग आखेट के अनुसन्धान में इधर उधर बिखर गए। थोड़ी देर बाद एक मृग पर ब्रह्मदत्त की दृष्टि पड़ी। उसने लक्ष्य साधा और बाण छोड़ दिया। परन्तु निशाना चूक गया। मृग चौंका और चौकड़ियाँ भरने लगा। ब्रह्मदत्त का घोड़ा भी उसके पीछे-पीछे दौड़ चला। मृग को प्राणों की चिन्ता थी, ब्रह्मदत्त को शिकार की। अतएव दोनों ऐसे उड़े जा रहे थे, जैसे चिड़िया और बाज़। थोड़ी देर बाद मृग दृष्टि से ओझल हो गया और ब्रह्मदत्त भूलता-भटकता एक सघन वन में जा पहुँचा। मध्याह्न का समय था। धूप ऐसी प्रखर थी, जैसे सचेत हुए पापी के हृदय में पश्चात्ताप की अग्नि। ब्रह्मदत्त का शरीर पसीने-पसीने हो रहा था। वह एक वृक्ष की घनी-सी छाया में घोड़े से उतर पड़ा। भार हलका होते ही घोड़े ने दूब से मुँह

लगाया और ब्रह्मदत्त शून्य दृष्टि से चारों ओर दूर–दूर तक ताकने लगा। इतने में उसने देखा कि युवक एक ओर से उसी के निकट आ रहा है।

'क्या तुम भी मार्ग भूल गए?'–युवक पास पहुँचा, तो ब्रह्मदत्त ने पूंछा।

'नहीं तो, महाराज की सेवा करने चला आया!'– युवक ने घोड़े की पीठ छोड़ते हुए उत्तर दिया। इसके बाद उसने कुछ भूमि स्वच्छ की, घोड़े की पीठ पर बँधे हुए वस्त्र खोलकर बिछाए और ब्रह्मदत्त से कहा– 'श्रीमान् दो घड़ी विश्राम कर लीजिये।'

'युवक, तुम्हें मेरी बड़ी चिन्ता रहती है। तुम्हारा सेवा–भाव देखता हूँ, तो मुग्ध हो जाता हूँ। आओ, तुम भी बैठो।'–बिस्तर पर बैठते–बैठते ब्रह्मदत्त ने कहा।

युवक ने उसकी आज्ञा का पालन किया। ब्रह्मदत्त भूल गया कि मैं सम्राट् हूँ। युवक भूल गया कि मैं सम्राट् का तुच्छ सेवक हूँ। परिस्थिति की विवशता कितनी शक्ति-शालिनी होती है! ब्रह्मदत्त युवक की जंघा पर सर-डालकर लेट रहा। दोनों में वार्तालाप होने लगा। शीतल वायु ऐसे प्रवाहित हो रही थी जैसे दया की निर्झरिणी में उदारता का जल। धीरे-धीरे ब्रह्मदत्त के नेत्रों में परम शान्ति-दायिनि निद्रा विश्राम करने लगी।

जब युवक ने देखा कि ब्रह्मदत्त गाढ़ निद्रा में निमग्न हो गया है, तब उसने धीरे–से म्यान से कटार खींची, और ब्रह्मदत्त के कण्ठ की ओर बढ़ाई। कटार कण्ठ तक पहुँची थी कि उसने हाथ रोक लिया और कटार भूमि पर रख दी। कुछ समय तक सोचने के बाद उसने पुनः तलवार उठाई। जीवन और मरण का संगम होने में केवल एक बालिश्त का अन्तर रह गया। परन्तु उनका मिलन हुआ नहीं। सहसा भीतर-ही-भीतर किसी ने युवक की आत्मा को झकझोर डाला और उसके हाथ से कटार छीनकर भूमि पर रख दी। युवक ने साहस को फिर समेटकर कटार उठाई, पर उसका हाथ चल नहीं

सका; मनों उस समय युवक के हृदय में राक्षस और देवता का द्वन्द्व-युद्ध हो रहा था। राक्षस बार-बार ब्रह्मदत्त की हत्या करने पर उतारू होता था, परन्तु देवता उसे प्रत्येक बार उठाकर पछाड़ देता था।

इस प्रकार जीवन और मरण एक दूसरे को चुनौती दे ही रहे थे कि ब्रह्मदत्त हड़बड़ाकर जाग उठा और युवक की ओर घूरते हुए बोला—' तुम मेरी हत्या करना चाहते थे? मैंने अभी-अभी स्वप्न देखा है!'

'हाँ, करना तो चाहता था!'—युवक ने निर्विकार भाव से उत्तर दिया—मैंने तीन बार कटार उठाई, परन्तु धन्यवाद दीजिए मेरी माता को, जिसने तीनों बार आप की रक्षा की।'

'कहाँ है तुम्हारी माता? तुम तो कहते थे कि वह मर चुकी है।'

'हाँ, शरीर से मर चुकी है, पर स्मृति-रूप से मेरे हृदय में रहती है।'

'तब उसने मेरी रक्षा कैसे की?'

'उसने या उसके उपदेश ने-बात एक ही है।'

'उसने तुम्हें कौन-सा उपदेश दिया था?'

'महाराज, मेरी माता बड़ी दुखियारी थी। असह्य दुःखाग्नि ने उसके हृदय को कंचन बना दिया था। उसने अपने अन्तिम काल में मुझे आज्ञा दी थी कि बेटा, अपने भयानक से भयानक शत्रु पर भी प्रेम-भाव रखना, क्योंकि प्रेम से प्रेम और घृणा से घृणा की उत्पत्ति होती है।'

'तब मैं तुम्हारा शत्रु हूँ! तुम्हें एकदम इतना ऊँचा पद दिया, तुम पर दया-भाव रक्खा, फिर भी मैं तुम्हारा शत्रु हूँ?'

'जी हाँ, आप मेरे शत्रु हैं! और शत्रु भी साधारण नहीं, अत्यन्त भयानक-अत्यन्त भीषण। आप ने मेरे जिस स्वर्ण-मय संसार को नष्ट किया है, उसके समक्ष आप की कृपा का यह सम्पूर्ण दान तुच्छातितुच्छ है।'

'सो कैसे?'

'आप को स्मरण होगा, लगभग बीस वर्ष हुए, आपने कौशल पर

आक्रमण किया था।' 'परन्तु उससे तुम्हारा सम्बन्ध ? तुम तो पाटलिपुत्र के निवासी हो न ?'

'धैर्य–पूर्वक सुनिए। कौशल–पति ने आपकी अधीनता स्वीकार नहीं की। वह युद्ध में परास्त हुए और अपनी पत्नी–सहित यहीं–आपकी काशी में आकर रहने लगे। पेट की ज्वाला शान्त करने के लिये उन्होंने कुम्हार का धन्धा अपना लिया। पर, आपकी पिशाच–वृत्ति ने उनको इस दशा में भी न रहने दिया। एक दिन वह आपके सैनिकों–द्वारा बन्दी हुए और तलवार के घाट उतार दिऐ गए। मैं उन्हीं कौशल–पति दीधित का पुत्र हूँ। दीर्घायु मेरा नाम है। जिस समय पिताजी ने यह संसार छोड़ा, मैं कोई चार वर्ष का था। मेरी माता मुझे बचाने के लिये चुपचाप काशी से बाहर चली गईं। आह! मेरे पालन–पोषण के लिये उस राज्यच्युत देवी को कितने कष्ट सहने पड़े! लगभग तीन वर्ष हुए, मेरी वह स्नेह–मयी जननी भी मुझे छोड़ कर चली गई। जिस दिन से मैंने होश सँभाला है, मेरे हृदय में एक भयानक चिता धू–धू करती रहती है। उसी की शान्ति के लिये आज कटार उठाई थी, पर माता की महिमा....'

बात पूरी करते–करते दीर्घायु के नेत्र भर आए। परन्तु ब्रह्मदत्त ने झपटकर उसके हाथ बाँध दिए। दीर्घायु ने प्रतिकार की कोई चेष्टा नहीं की। ब्रह्मदत्त ने उसे सहारा देकर घोड़े पर बिठाया, और तब स्वयं घोड़े पर सवार होकर डेरे की ओर चला। मार्ग में दोनों चुप थे। दीर्घायु के मुख पर दीप्ति नहीं, विषाद की श्यामल छाया थी। शायद वह मन–ही–मन अपने दुर्भाग्य की मीमांसा करता जाता था। परन्तु ब्रह्मदत्त के मुख पर प्रसन्नता की आभा थी। शायद वह मन–ही–मन अपनें सौभाग्य पर इतराता जाता था।

डेरे पर पहुँचकर ब्रह्मदत्त ने सैनिकों को आज्ञा दी–'यह पार्श्वचर भयानक अपराधी है। इसकी देख–भाल अत्यन्त सावधानी से की जाय।'

दीर्घायु पर जलने वालों का अभाव न था। जलने की बात ही थी। एक अल्पायु युवक इतने बड़े पद पर पहुँच जाय और सयाने लोग न जलें, तो प्रकृति का नियम ही कहाँ रहे ? अतएव उनका यह कहना उचित ही था कि 'ऐसा तो होना ही था। महाराज की भूल थी, जो उन्होंने पथ के भिखारी को सिंहासन पर बिठा दिया।' परन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे, जो यह कह कर स्वाभाविकता पर पानी फेर रहे थे कि 'हाय ! इस युवक को अपने नन्हें-से प्राणों पर दया न आई !'

× × ×

ब्रह्मदत्त अपने राज-भवन में एक उच्चासन पर बैठा हुआ था। उसके वाम पार्श्व में उसकी महारानी भी विद्यमान थीं, जैसे पुरुष के साथ प्रकृति अथवा जीव के साथ माया। ब्रह्मदत्त ने अपनी घनी मूछों से दबे हुए होठों में स्मित हास्य भरकर महारानी से कहा-'प्रिये, कल एक अद्भुत अपराधी बन्दी हुआ है; वही युवक, जिसे कुछ समय पूर्व मैंने पार्श्वचर नियुक्त किया था, और जो बहुत अच्छा गाता है। उसे दण्डित करने के लिये तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है।' इसके बाद ही उसने गम्भीरता-पूर्वक आवाज़ दी-'प्रहरी ! कलवाला अपराधी उपस्थित किया जाय।'

सैनिक अविलम्ब दीर्घायु को ले आए और ब्रह्मदत्त का संकेत पाते ही बाहर चले गए। दीर्घायु के हाथ बँधे हुए थे, परन्तु मुख से कान्ति फूट रही थी, जैसे चन्द्रमा धूमिल बादलों को चीर कर बाहर निकल आया हो। दीर्घायु को मानों ब्रह्मदत्त के न्याय का आभास हो चुका था और उसने निश्चय कर लिया था कि मेरा भाग्य माता-पिता के भाग्य से तो श्रेष्ठ हो नहीं सकता, तब दुखित होने से क्या लाभ ? जब मरना ही है, तब हृदय में किसी प्रकार के विकार को क्यों स्थान दूँ ?

इसी समय वहाँ एक षोडश वर्षीया कुमारी ने प्रवेश किया। खिले हुए पुष्प के सदृश मुख, भोलेपन से परिपूर्ण आकर्ण विस्तृत नेत्र, कुन्दन के

समान उज्ज्वल वर्ण, शरीर में जैसे ईंगुर भरा हो, कड़्कड़ मारो तो लहू बह निकले। उसने कौतूहल भय नेत्रों से दीर्घायु को देखा। दीर्घायु ने भी उसी दृष्टि से उस लावण्य की पुतली की ओर निहारा। दोनों का दृष्टि मिलन हुआ और दोनों के सर झुक गए।

'कुसुम!'—ब्रह्मदत्त ने कुमारी की ओर स्नेह-मयी दृष्टि से देखा और वात्सल्य-पूर्ण स्वर से कहा—'इस बन्दी को बन्धन-मुक्त कर दो बेटी!'

कुसुम ने ब्रह्मदत्तने की आज्ञा का पालन किया। फिर वह धीरे-धीरे चल कर राज—महिषी के निकट जा बैठी।

'यही वह बन्दी है आर्ये!'—ब्रह्मदत्तने पत्नी की ओर मुँह फेरते हुए कहा।

'यह रूप, और ऐसा काम! सच है फूलों में काँटा छिपा रहता है।'—राज-रानी मुसकिराकर बोलीं।

'तुम इसे जानती हो? यह कौशल-नरेश दीधित का पुत्र है। कल इसने मेरी हत्या करने के लिये तीन बार कटार संभाली थी। बोलो, इसे क्या दण्ड दिया जाय?'

'कल का बच्चा!'—काशी की राज्य—लक्ष्मी ने अग्नी मय नेत्रों से दीर्घायु को देखा, एवं चीखकर कहा—'और यह साहस! अश्चर्य की बात है। अब तक इसके सर पर धड़ रहा कैसे? यह तो केवल प्राण-दण्ड का पात्र है।'

'परन्तु मेरा विचार कुछ और है। यदि यह आजीवन बन्दी बना रहे, तो?'

'और भी उत्तम! घुल-घुल कर मरेगा।'

'परन्तु बेंड़ियां सुदृढ़ होनी चाहिए।'

'आप के पास बेड़ियों का क्या अभाव!'

'उन बेंड़ियों में वह बल—वह दृढ़ता कहाँ!'

'तब?'—महारानी ने महाराज की ओर रहस्य-मय दृष्टि फेंकी।

'तुम सहायता करो, तो काम बन जाय।'–महाराज ने मुसकिराकर कहा।

'मैं क्या सहायता करूँ? मेरे पास ऐसी बेड़ियाँ कहाँ!'

'एक है; वचन दो, तो कहूँ।'

'वचन ही समझिए। होगी, तो क्यों न दूँगी। परन्तु मेरे पास है नहीं। न जाने, आप को क्यों ऐसा विश्वास हो गया है।'–सम्राज्ञी स्थिरता–पूर्वक बोली।

'है, तभी तो कह रहा हूँ। देखो, किन्तु–परन्तु न करने लगना।' सम्राट् ने आग्रह–पूर्वक कहा।

'आज्ञा कीजिए।'

'क्या इसके लिये हमारी कुसुम लोहे की बेड़ियों से अधिक दृढ़ प्रमाणित न होगी?'

रहस्य

श्यामपुरा की वह लम्बी-चौड़ी हवेली बिलकुल नई, ठाठ-बाट के साथ हँसती हुई, सहज ही क्षण-भर के लिये राहगीरों की आँखें रोक लेती थी। वह बाहर से जितनी रूपवती थी, भीतर उससे भी अधिक सुन्दर थी। उसके छोटे-से-शान्ति पूर्ण राज्य की रानी थी-एक ढलती हुई उमर की देवी, जिसका रूप मुरझा गया था, रङ्ग मैला हो चुका था और शृंगार था केवल सफ़ेद रङ्ग की एक बगबगी साड़ी, वह भी बिना किनारी की।

परन्तु रानी कभी उदास नहीं रहती थी, सदा प्रसन्न मुख दिखाई देती थी, मानों उसके सूखे शरीर में जीवन की धारा ज़ोरों से बहा करती थी। यद्यपि रानी का राज्य प्रजा से शून्य था, पर उसके पास दो खिलौने थे। वह अकेली उन्हीं के साथ खेला करती थी। ये खिलौने थे-एक बालक लल्ला और एक बालिका मुन्नी। रानी दिन-भर उनको सँभालती, खिलाती-पिलाती, साफ़ सुथरे कपड़े पहनाती, और जब वह आपस में लड़ते-झगड़ते, तब

उन्हें डाँटती-डपटती। इसपर यदि वह उमठ जाते, तो उनको समझाती और पुचकार कर मनाती। यही रानी का खेल था और यही उसके राज्य का प्रबन्ध।

साढ़े दस बजते ही शोफ़र आता, गाड़ी को स्टार्ट करता और दोनों फूलों को लेकर पाठशाला की ओर भाग जाता। किलकारियाँ भरती हुई हवेली को सूनी देख-महकती हुई हवेली को सुगन्ध-हीन देख-रानी अनमनी हो जाती और घण्टों उसी दशा में पड़ी छत की कड़ियाँ गिना करती। साढ़े तीन बजते ही आपसे आप रानी के अनमने शरीर में जीवन रस दौड़ने लगता। वह उठती, मिठाइयों और फलों से दो थालियाँ सजाकर रखती। फिर छत पर जा खड़ी होती और तरसती हुई आँखों से पाठशाला के मार्ग की ओर ताका करती। चार-सवा चार बजते-बजते शोफ़र आ पहुँचता। बच्चे 'फू फू-फू फू' चिल्लाते गाड़ी से उतरते और रानी से जा लिपटते। रानी उनको पुचकारती, चूमती और उनके सर पर हाथ फेरती। फिर उनके हाथ-मुँह धुलाती और उनके सामने सजी हुई थालियाँ रख देती। बच्चे खाते हुए यहाँ-वहाँ की बातें करते और रानी मुसकिराती हुई उनकी भोली-भाली बातें सुनती और एकटक उनकी ओर देखती रहती, फिर भी उसकी आँखों की प्यास न बुझती। उस लम्बी-चौड़ी हवेली में केवल इतना ही रानी का जीवन था, और इतने ही जीवन के लिये जैसे वह उस राज्य की रानी बनी हुई थी।

जब कभी रानी ज़रा अधिक मौज में आजाती, तो ऐसी कोशिश करती कि बच्चे आपस में लड़ पड़ते। मुन्नी लल्ला की गेंद उठाकर आँगन में फेंक देती, और तब लल्ला खिसियाकर मुन्नी की गुड़िया छीन लेता। मुन्नी इस पर रानी से कहती-'देखो फू फू, लल्ला ने मेरी गुड़िया छीन ली।' लल्ला कहता-'और तूने मेरी गेंद फेंक दी, सो?' तब रानी उन दोनों को झिड़कती-'छिः! आपस में इस तरह लड़ना चाहिए? मुन्नी, तुम लल्ला

की गेंद उठा लाओ; और लल्ला, तुम मुन्नी की गुड़िया दे दो।' कभी रानी जान-बूझकर लल्ला को ज्यादह मिठाई दे देती, लल्ला खाते-खाते मुन्नी को चिढ़ाता-'तुझे एक ही रसगुल्ला मिला, मैंने दो फटकार लिए!' इस पर मुन्नी कहती-'फू फू, मुझे एक रसगुल्ला और दो, मैं भी दो लूँगी।' रानी जवाब देती-'बिटिया, अब रसगुल्ले कहाँ हैं।' यह सुनते ही मुन्नी लल्ला की थाली पर झपटती, तब तक लल्ला मुन्नी का वह रसगुल्ला भी चट कर जाता। बस, मुन्नी मचल पड़ती, थाली उठाकर फेंक देती और रोती-रोती कहती-'मुझे तुम्हारी मिठाई नहीं चाहिए। लल्ला बहुत दुष्ट है। अब मैं इसके साथ न खेलूँगी।' यह तमाशा देख रानी हँसती-हँसती लोट-पोट हो जाती, झपटकर मुन्नी को गोद में उठाती और पोंछ-पुचकार कर ढेर भर रसगुल्ले उसके सामने रख देती। बच्चों का यही ऐंठना-उमठना, लड़ना-झगड़ना और मचलना ही रानी का सर्वस्व था और इसे प्राप्त कर उसका सूखा चेहरा नित्य हरा हुआ करता था।

हवेली के हाते में एक छोटी-सी बागिया थी, जो सदा लहलहाते पौधों तथा खिले फूलों से ताज़ी बनी रहती थी। रानी शाम होते-होते अपने खिलौनों को लेकर बगिया में जा पहुँचती। वह बेंच पर बैठ जाती और बच्चे तितलियों की नाईं सारी बगिया में उछल-कूद मचाते फिरते। उनकी मीठी किलकारियों से बगिया का कोना-कोना गूँज उठता; जैसे प्रकृति और पुरुष को अपनी गोद में लेकर वह निर्जीव बगिया खिलखिलाकर हँस पड़ती।

लल्ला कहता-'वह देखो मुन्नी, कैसा प्यारा फूल खिल रहा है!'

मुन्नी जवाब देती-'और वह देखो, उस पर कैसी प्यारी तितली मँडरा रही है!'

लल्ला कुछ सोचकर कहता-'अहा! यदि मैं भी फूल होता, तो....'

मुन्नी फ़ौरन् जवाब देती-'और यदि मैं तितली होती, तो...'

लल्ला हँस पड़ता, कहता–'तब तो मुन्नी, बड़ा मज़ा रहता। हम दोनों एक ही पेड़ पर रहते। मैं तुम्हें देखा करता, तुम मुझे देखा करतीं।'

रानी चुपचाप बेंच पर बैठी रहती, वह न तो लहलहाते हुए पौधों को देखती, न ताज़े खिले हुए फूलों पर नजर डालती, न चिड़ियों का चहचहाना सुनती, और न अपने–अपने घोंसलों की ओर जाते हुए पक्षियों पर ध्यान देती। केवल–और केवल अपने खिलौनों की ओर एकटक देखा करती। फिर आप–ही–आप कहने लगती–'अहा! कितने प्यारे हैं ये बच्चे, जैसे एक गुल्दस्ते में सजे हुए दो खुबसूरत फूल हों। इनको जितना देखती हूँ, उतना ही और देखते रहने की इच्छा होती है। देखते–देखते आँखें थक जाती हैं, फिर भी देखने की साध नहीं मिटती। इनके साथ कितने दिनों से खेलती आ रही हूँ, पर देखती हूँ, खेलते रहने की वह तृष्णा जैसे अभी कण भर भी पूरी नहीं हुई। कितने दिनों से इन खिलौनों के साथ खेलती आ रही हूँ, पर ये पुराने नहीं होते, नित्य नवीनता धारण करते जाते हैं। मेरे जीवन के टूटे हुए तारों में इन बच्चों ने कितना मधुर स्वर भर दिया है!'

धीरे–धीरे बिलकुल शाम हो जाती। आकाश पृथ्वी पर अन्धकार बिखेरने लगता। तब दोनों बालक गलबहियाँ डाले हुए सहसा रानी के सामने जा पहुँचते, उसके विचारों को भंग कर देते–'फू फू, घर में चलो; रात हो रही है।' रानी उन दोनों के सरों पर अपना एक–एक हाथ रख देती, और फिर दोनों बच्चे उसके एक–एक हाथ से झूमते हुए घर में चले जाते।

धीरे–धीरे लल्ला और मुन्नी की उमर बढ़ती जाती थी और उसी के साथ उनकी किलकारियों और क्रीड़ाओं में भी नित्य नया घाटा होता जाता था। यह देखकर रानी कभी–कभी बेचैन हो उठती और अपने आप कहने लगती थी–'प्रकृति, तू बड़ी निठुर है। मेरे बच्चे बच्चे ही बने

रहने दे। उनको कृपा कर सयाने मत बना–ज्ञान के उजेले में मत ले जा। मैं उनको अज्ञान, केवल अज्ञान ही देखना चाहती हूँ। तू ने मेरा क्या नहीं छीना? अब एक ही अरमान बाक़ी है, उसे तो न छीन। मेरे बच्चे केवल बच्चे ही बने रहने दे!'

परन्तु प्रकृति किस की गुहार सुनती है? किस के अरमान देखती है? वह तो अपना काम सदा एक गति से किए जाती है। वह रानी के अरमान को ठुकरा कर लल्ला और मुन्नी को अठारह और पन्द्रह की सीमा पर लें गई। रानी ने देखा–उसकी मुन्नी सँभल रही है–उसका रूप दीपावली की ओर जा रहा है। उसे कहीं नज़र न लग जाय; बस, इसी भय से रानी ने उसके एक दिठौना लगा दिया–उसका पाठशाला जाना बन्द कर दिया। परन्तु बालक तो बालिका के बराबर आकर्षक होता नहीं, और उसे नज़र लगने का भी उतना डर नहीं रहता। अतः लल्ला का पाठशाला जाना जारी रहा।

मुन्नी घर में क्या रहने लगी, रानी का सुख छीनने लगी। जब लल्ला के पाठशाला से लौटने का समय होता, तो रानी उसके लिये थाली सजाने को तैयार होती। पर, मुन्नी बीच में ही उसके हाथ से थाली छीन लेती। रानी कहती–'पगली, यह क्या करती है? एक तरफ़ बैठ। मैं आप लल्ला को खिला–पिला दूँगी।'

मुन्नी उत्तर देती–'वाह फू फू! क्या कहना! मैं एक तरफ़ बैठूँ, और तुम थाली सजाओ! अब यह काम मेरा है। तुम एक तरफ़ बैठो, आराम करो। मैं जहाँ भूल करूँ, बतलाओ।'

रानी हँस पड़ती, मुन्नी के सर पर हाथ फेरती हुई कह उठती–'अच्छा बेटी, जो तुझे भावे, वही कर!' और उसके कण्ठ से आनंन्द की धारा बह निकलती, मुखड़े पर ताज़गी छा जाती, जैसे अपना सुख मुन्नी को सौंपते हुए उसकी आत्मा में पुलक का आवेग चक्कर मारने लगता।

मुन्नी अपने कोमल गुलाबी हाथों से थाली माँजती, फिर उसे भाँति-भाँति की मिठाइयों, मेवों, और फलों से सजाती, और तब बड़ी बेचैनी से लल्ला के आने की बाट निहारती। ज्यों ही ज़रा-सा खटका सुनती, त्योंही चौंककर द्वार की ओर देखने लगती, जैसे लल्ला आ रहा हो। यह देख रानी के होठों पर मुसकिराहट छा जाती; वह मुन्नी से कहती–'दुर पगली! क्या कोई इस तरह बेचैन होता है? जब समय हो जायगा, तो वह आप ही आ पहुँचेगा।'

मुन्नी की आम की फाँक जैसी बड़ी-बड़ी आँखें सजल हो जातीं, वह रुँधे गले से बोल उठती–'फू फू, लल्ला बड़े दुष्ट हैं। वह जान बूझकर लापरवाही करते हैं। मैं उनके लिये इतनी बेचैन रहती हूँ, इसीलिये वह और भी देर करते हैं। आज उन्हें लौटने दो, बात भी न करूँगी।'

परन्तु जब लल्ला सचमुच घर में आ पहुँचता, तो मुन्नी का इरादा आप-से-आप ढीला पड़ जाता। उसकी रतनारी आँखें चमक उठतीं, मुखड़ा ताज़े गुलाब की नाईं खिल पड़ता, कण्ठ में स्वर लहराने लगता और पैरों में गति उत्पन्न हो जाती। लल्ला मुंह धोनेके बाद खाना शुरू करता, और मुन्नी पङ्खा लेकर उसके सामने बैठ जाती। लल्ला खाते-खाते यहाँ वहाँ की या कभी-कभी पढ़ने-लिखने की चर्चा छेड़ देता और मुन्नी के कान वह बातें एक चित्त हो सुनते तथा नेत्र बिना पलक हिलाए उसकी ओर ताका करते। बुढ़िया रानी थोड़ी दूरी पर बैठी-बैठी लल्ला और मुन्नी की वह झाँकी देखने में निमग्न रहती एवं उसके होंठ बराबर मुसकिराया करते।

पाठशाला में पढ़ते-पढ़ते मुन्नी बुनने और सीने-पिरोने के काम में चतुर हो गई थी। फ़ुरसत पाते ही वह सुई-धागा लेकर बैठ जाती, कभी रुमाल काढ़ती, कभी गलाबन्द या मफ़लर बुनती और कभी पङ्खे बनाती। जब कोई चीज़ तैयार हो जाती, तो उसे लेकर लल्ला के सामने पहुँचती और कहती–'देखो तो लल्ला, क्या यह तुम्हें पसन्द है?'

'वाह! क्यों नहीं! बहुत सुन्दर है। जी में आता है, बनानेवाली के हाथ चूम लूँ!'

'ख़रीदोगे?'

'ज़रूर!'

'क़ीमत बहुत है!'

'सुनूँ तो!'

'न दे सकोगे!'

'कहोगी या नहीं? जो माँगोगी, वही दूँगा!'

'सच?'

'और क्या झूठ!'

'अच्छा, तुम यों ही ले लो!–' मुन्नी कहती–'पर देखो, एक बात का ख़याल रखा करो। घर ज़रा जल्दी लौट आया करो। तुम बाहर रहते हो, तो घर सूना सूना जान पड़ता है।' कहते–कहते मुन्नी के स्वर में थोड़ी सी कातरता झलक मार जाती।

लल्ला मुन्नी के दिए हुए उपहार को ले लेता और फिर अपनी आँखें मुन्नी के मुखड़े पर जमा देता। पल-भर बाद कहता-'मुन्नी, तुम मेरे लिये अपने नन्हें-नन्हें हाथों को, फूल-से कोमल हाथों को क्यों दुःख देती हो?'

मुन्नी अपने हाथ की चम्पाकली जैसी उंगलियाँ लल्ला के मुँह पर रख देती और कहती–'न–न! ऐसा न कहो लल्ला! यह सब मैं तुम्हारे लिये कहाँ करती हूँ! केवल अपने सुख के लिये करती हूं!' कहते-कहते जैसे मुन्नी का स्वर काँप उठता, और सुनते-सुनते लल्ला जैसे कुछ सोचने लगता।

होते-हवाते लल्ला और मुन्नी ने इक्कीस और अठारह की सीमा भी पार कर डाली। अब उनके, लल्ला और मुन्नी नाम ही भर रह गए। वह बचपन के लल्ला और मुन्नी न रहे–हृदय से भी, शरीर से भी। हृदय अब वह हृदय नहीं थे–अब वह सोचने–विचारने और समझने लगे

थे। शरीर तो बिलकुल ही बदल गए थे। पहले के छोटे-से रूप अब बहुत बढ़ गए थे, रंग निखरकर कुन्दन के समान हो गए थे और छुटपन की उस चंचलता को यौवन के उभार ने क़रीब-क़रीब एकदम कुचल दिया था। परन्तु रानी के वह दोनों खिलौने, अब भी एक ही गुलदस्ते के दो फूल थे, जो अब बिलकुल खिल चुके थे और जिनकी ख़ुशबू अब और भी बढ़ गई थी। लल्ला अब भी उसी तरह मुन्नी का था, और मुन्नी अब भी उसी तरह लल्ला की थी। हृदयों में प्रेम की जो गाँठ एक बार बँध गई थी, वह अब दिनों दिन और भी मज़बूत होती जाती थी। मुन्नी उसी तरह लल्ला के लिये बेचैन रहती थी और लल्ला भी उसी तरह मुन्नी का चिन्तन किया करता था। परन्तु बेचारी रानी की दशा उस बच्चे के समान हो गई थी, जो बड़े-बड़े खिलौनों को केवल देखा करता है, और देखकर हँसता-मुसकिराता रहता है।

लल्ला और मुन्नी अब भी अपनी बगिया में जाते थे। परन्तु अब वहाँ चहल-पहल न होती थी, बिल्कुल सन्नाटा छाया रहता था और उस सन्नाटे में दोनों पुतलियों के समान बेंच पर बैठे रहते थे। लल्ला देर तक न जानें क्या-क्या सोचता रहता था और मुन्नी चुपचाप कनखियों से उसका मुंह देख लेती, फिर किसी चिन्ता में डूब जाती थी। कभी-कभी सोचते-सोचते लल्ला की गम्भीरता एकदम चंचल हो जाती, वह अपनी चमकती हुई आँखें मुन्नी के खिलते हुए मुखडे पर जमा देता, और तब उसकी ज़बान कोमल स्वर में पुकार उठती-'मुन्नी!'

मुन्नी के गुलाबी गाल और भी गुलाबी हो जाते, सर आप-ही-आप नीचे को झुक जाता, आबदार आँखें ऊपर को न उठतीं, केवल गला झनझना उठता-'लल्ला!'

लल्ला चुप हो जाता। हृदय का तूफ़ान गले तक आकर, फिर हृदय की ओर ही मुड़ जाता।

मुन्नी कहती–'बोलते क्यों नहीं ?' और फिर बड़े साहस के साथ अपना सर उठाती तथा नेत्रों की पुतलियाँ घुमाकर लल्ला के मुँह की ओर देखती।

लल्ला अटक–अटक कर उत्तर देता–'क्या कहूँ मुन्नी !' और फिर सोच–विचार की उधेड़–बुन करने लगता।

मुन्नी फिर कुछ न कहती, वह भी चिन्ता का जाल बुनने में लग जाती।

एक दिन रानी ने लल्ला से कहा–'तुझे मुन्नी की भी कुछ फ़िक्र है ?'

लल्ला उस समय भोजन कर रहा था। रानी की बात सुनते ही चौंक पड़ा। हाथ का कौर हाथ में ही रह गया। उसने घबरा कर रानी से पूंछा–'कैसी फ़िक्र फू फू ! मुन्नी को क्या कष्ट है ?'

'मैं कष्ट की बात नहीं कहती। मुन्नी अब सयानी हो गई है। सयानी बेटी घर में नहीं रखी जाती। कहीं न कहीं तो उसका विवाह करना ही पड़ेगा। तू ने कुछ उद्योग किया ?'–रानी ने मुसकिराकर कहा।

लल्ला का मुँह उतर गया। 'सचमुच बड़ी ग़ल्ती हुई फू फू ! मैंने अभी तक यह बात न सोची थी कि हमें मुन्नी का विवाह करना पड़ेगा। अब मैं कुछ उद्योग अवश्य करूँगा।'–काँपते गले से लल्ला ने उत्तर दिया। फिर वह भोजन न कर सका। दो–चार कौर पानी के ज़रिये गले से नीचे उतार कर उठ बैठा। रानी ने बहुत कहा–'अरे, कुछ और खाले–मुन्नी के विवाह की इतनी जल्दी नहीं है।' पर, लल्ला ने 'आज भूख नहीं है' कह कर पीछा छुड़ाया और जल्दी–जल्दी कपड़े पहिन कर कालेज की राह ली।

जब शाम को लल्ला कालेज से लौटा, तब उसके चेहरे से उदासी बरस रही थी। आज मुन्नी ने झपटकर उसका स्वागत नहीं किया। लल्ला और भी उदास हो गया। जब वह हाथ–मुँह धो चुका, तो रानी–जल–पान की थाली ले आई। परन्तु लल्ला थाली की ओर देख भी न सका। 'फू फू,

अभी न खाऊँगा; तबीयत कुछ अलील है। घड़ीभर बगिया में बैठूँगा।' कहकर वह चलता हुआ। मुन्नी भी छाया के समान उसके साथ हो गई।

दोनों बगिया में पहुँचकर बेंच पर बैठ गए। दोनों चुप थे, गहरे सोच में डूबे हुए थे। थोड़ी देर बाद लल्ला का जी जैसे कुछ शान्त हुआ। उसने अपनी उदास आँखें मुन्नी के मुखड़े की ओर घुमाईं। देखा, तो उस दमकते हुए चन्द्रमा को उदासी के बादलों ने ढँक लिया है। लल्ला एक ठण्ढी साँस लेकर फिर कुछ सोचने लगा। क्षण-भर के बाद उसने फिर मुन्नी की ओर देखा। मुन्नी की रतनारी आँखे सुर्ख़ हो रही थीं, और उन पर फैले हुए पलकों की सुर्ख़ी भी गहरी हो गई थी-एक हलकी-सी सूजन लिए हुए। लल्ला का हृदय उमड़ उठा। उसने रुँधे गले से पुकारा-'मुन्नी!'

'लल्ला!'-मुन्नी का गला भर आया। उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे।

लल्ला की भी आँखें भर आईं। उसने अपने रेशमी रूमाल से मुन्नी के आँसू पोंछते-पोंछते कहा-'क्यों रोती हो मुन्नी?'

'फू फू मुझे घर से निकालने का विचार कर रही हैं!'

'आख़िर सयानी लड़की कब तक घर में रक्खी जा सकती है?'

'तुम भी उनका साथ दे रहे हो?'

कर्तव्य का पालन तो करना ही पड़ेगा।'

मुन्नी सिसकियाँ भरने लगी। 'हाय, तुम बड़े दुष्ट हो लल्ला!'-कहकर वह खड़ी हो गई। लल्ला ने उसका हाथ पकड़ लिया। दोनों के शरीर काँप उठे। मुन्नी आगे पैर न बढ़ा सकी।

'विवाह की बात से इतना दुःख किस लिये मुन्नी?'-लल्ला ने मुन्नी को समझाने की कोशिश की। फिर भी उसकी आँखें बरस पड़ीं।

'दुःख? दुःख इस लिये कि मैं यह घर छोड़ना नहीं चाहती।'-मुन्नी ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया।

'क्यों ?'

'क्या इस घर में मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है ?'

मुन्नी बल खाती हुई चली गई।

लल्ला ठगा-सा रह गया। उसने आँखें पोंछ लीं। फिर वह खड़े होकर टहलने लगा। पैर चल रहे थे, दिमाग़ सोच रहा था। सोचते-सोचते वह अपने आप को भूल गया। फिर भी शायद कुछ न सोच सका। अन्त में आप-ही-आप बड़बड़ाने लगा-'उफ़! कितनी कठिन समस्या है! क्या सचमुच इस घर में मुन्नी का कुछ भी अधिकार नहीं है ? फिर भी उसे विवाह के बहाने बाहर निकालना पड़ेगा! हाय रे लाचार मनुष्य! जीवन की दो धाराएँ कहाँ से आकर कहाँ एकत्र हुईं और अब ज़बर्दस्ती अलग-अलग होने जा रही हैं। आह मुन्नी! तुझे क्या मालूम कि तेरे चले जाने से एक जीवन कितना सूना हो जायगा। पर नहीं, उसे सूना तो करना ही पड़ेगा। तब इस भरे हुए जीवन को आज ही से उलीचना क्यों न शुरू कर दूँ ?'

उस दिन से लल्ला और मुन्नी के जीवन में एक नया परिवर्तन हो गया। दोनों बिलकुल उदास रहने लगे। दोनों कठ-पुतली के समान चलते-फिरते और सब काम करते। लल्ला मुन्नी को देखता, तो उसकी आँखें आप से आप झुक जातीं और कोई गम्भीर संकट बरबस बेचारे के गले को दबोच देता। मुन्नी लल्ला की ओर देखती, तो बेचारी की आँखों में करुणा भर आती। उसके मुँह से एक बात भी न निकलती; जैसे बोलने के लिये उसकी ज़बान हिलने की भी इच्छा न करती। वह चुपचाप-धीरे-धीरे लल्ला के सामने से चली जाती।

मुन्नी की उदासी बढ़ती ही गई। हफ्ते-भर के भीतर-ही-भीतर वह ऐसी हो गई, जैसे महीनों की बीमारी भोगकर उठी हो। मुखड़े की कान्ति पर स्याही छा गई, आँखों में वह चमक न रही, सुरीले गले में भर्राहट होने

लगी। वह घण्टों बिछौने पर पड़ी रहती और सूनी आँखों से छत की ओर ताका करती। यह देख लल्ला का कलेजा मुँह को आने लगा। उसने अपने को सँभालने की कोशिश की। वह धीरे-धीरे मुन्नी के पास जाता, और उसका हाथ अपने हाथ में लेकर पूंछता-' कैसी तबीयत है मुन्नी ? '

' अच्छी है। मुझे हैरान मत करो। '-कहकर मुन्नी हाथ झटक लेती और मुँह फेरकर पड़ रहती।

पर लल्ला ज्यों-का-त्यों बैठा रहता। मुन्नी को भाँति-भाँति से समझाता। पर मुन्नी चुपचाप उसकी बातें सुनती रहती, केवल कभी-कभी उसके मुँह की ओर ताक लेती।

एक दिन मुन्नी को हरारत हो आई। लल्ला दौड़कर डाक्टर को बुला लाया। डाक्टर ने रोगिणी की परीक्षा की और कहा-' बीमारी तो कुछ मालूम नहीं होती; हाँ, हृदय की कमजोरी अलबत्तह जान पड़ती है।'

लल्ला ने पढ़ा था कि मानसिक आघातों से बहुधा हृदय कमज़ोर हो जाता है और उसका नतीजा कभी-कभी बहुत बुरा होता है। डाक्टर की बात सुनकर लल्ला के चेहरे पर गहरी उदासी छा गई। वह रात लल्ला के लिये बैरिन हो गई। वह रात-भर मुन्नी की खाट पर बैठा रहा। रानी ने उससे बहुत कहा-' इतना घबराने की क्या ज़रूरत है ? हरारत हो आई है, तो क्या हुआ ? सवेरा होते-होते तबीयत सुधर जायगी। जाओ, आराम करो। कहीं अपनी तबीयत न बिगाड़ लेना। '

मुन्नी ने भी कई बार कहा-' मेरे लिये इतनी चिन्ता क्यों करते हो ? जाकर सो रहो। '

पर, लल्ला ने हर बार यही उत्तर दिया-' सो रहूँगा ! '

मुन्नी की आँखों में भी नींद न थी। गहरी चिन्ता उसकी आँखों में समाई हुई थी, नींद कहाँ से आती ? जब वह करवट बदलती, तो लल्ला मधुर स्वर में पूंछता-' कैसा जी है ? '

मुन्नी हर बार यही उत्तर देती–' अच्छा है ! तुम अब तक नहीं सोए ?' फिर चुप हो जाती।

राम–राम करके सवेरा हुआ। मुन्नी की तबीयत ठीक जान पड़ी। लल्ला के जी में जी आया। मुन्नी ने सहसा उससे पूछा–' मेरी इतनी चिन्ता क्यों करते हो ? मैं कौन हूँ तुम्हारी ?'

' मुझ से पूछती हो ? अपने हृदय से क्यों नहीं पूछती ?'

' वह घायल है। दर्द से तड़प रहा है। उससे क्या पूछूँ—कैसे पूछूँ ?'

लल्ला चुप हो रहा। एक टक मुन्नी के उतरे हुए मुँह की ओर ताकता रहा। उसकी आँखें जसल हो रही थीं।

क्षण–भर के बाद मुन्नी ने फिर पूछा–' इतने उदास क्यों रहते हो ?'

' तुम्हारी उदासी देखकर !'

' मैं उदास न रहूँ, तो ?'

' मैं भी उदास न रहूँगा।'

' अच्छा, मैं उदास न रहूँगी। फूफू के साथ मिलकर मुझे घर से निकालने की तजवीज़ तो न करोगे ?' लल्ला सुन्न होकर रह गया।

' पगली कहीं की ! आप दुखी होती है और लल्ला को दुखी करती है। अच्छा, मैं तेरे विवाह की चर्चा न करूँगी। अब तो हँसेगी ?'–कहती हुई रानी वहाँ आ पहुँची।

मुन्नी ने अविश्वास की नज़र से रानी को देखा।

रानी ने उसके सर पर हाथ फेरते हुए कहा-'बेटी, मैं सच कह रही हूँ। तुझे इसी घर में बाँधकर रखूंगी '

धधकती हुई आग पर अमृत की धारा बरस गई। उदासी से भरे हुए दो जीवन मुसकिरा पड़े। लल्ला और मुन्नी के हृदयों में जिस बात की कल्पना भी न उठी थी, वही रानी के मुँह से आकाश-वाणी की नाईं सुनाई दी। दोनों को अपने जीवन का सर्वस्व, जो बिलकुल गुम गया था,

और जिसके मिलने की आशा भी न थी, अचानक इस तरह प्राप्त हो गया। दोनों आश्चर्य और प्रसन्नता मिश्रित निगाहों से रानी की ओर देखने लगे।

रानी ने उसी सिलसिले में कहा—' यदि तुम दोनों का आपस में विवाह कर दिया जाय, तो ? '

मुन्नी उठकर बैठ गई। उसने हँसते—हँसते रानी के मुँह पर अपना हाथ रख दिया और कहा—' चुप-चुप ! अब ऐसी बात न कहना। '

रानी ने मुन्नी का हाथ हटा दिया और मुसकिराकर कहा। ' अब तो मैं तुम दोनों को विवाह के बन्धन में बाँधकर ही रहूँगी। '

लल्ला ने काँपते हुए कण्ठ से कहा—' पगली तो नहीं हो गई फूफू ! भला भाई—बहिन की भी शादी होती है ? हम दोनों इसी दशा में रहते हुए इस घर में एक सुखी संसार की सृष्टि कर लेंगे। '

रानी बोली ' परन्तु तुम दोनों भाई—बहिन तो हो नहीं—न सगे और न रिश्ते में। '

लल्ला ने कहा—' न सही। दुनिया तो हमें भाई—बहिन ही समझती है। '

लल्ला का सारा शरीर काँप उठा, मुँह पर उदासी छा गई और आँखें एक सूनी दृष्टि से रानी की ओर देखने लगीं।

रानी हँस पड़ी। ' मुझे दुनिया की समझ से कोई मतलब नहीं। अब तक तुम को भाई-बहिन के रूप में देखकर मैंने नारी—जीवन के सर्वस्व को प्राप्त किया है। अब पति-पत्नी के रूप में देख कर नारी—जीवन के अन्तिम काल की एक मनोहर लालसा पूरी करूँगी और फिर सुख से मर जाऊँगी। ' कहती हुई वह गम्भीर हो गई।

लल्ला और मुन्नी ने रानी का ऐसा रूप कभी न देखा था। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि रानी क्या कह रही है। दोनों को जैसे लकवा मार गया था। वह ताज्जुब-भरी निगाहों से रानी की वह गम्भीर

मूर्ति देख रहे थे। रानी फिर उसी सिलसिले में बोली– ‘ तुम लोग न ताज्जुब करो, न यह समझो कि तुम्हारी फू फू पगली हो गई है। मैं जो कुछ कह रही हूँ, ठीक ही कह रही हूँ; और अब तुम्हें ज्यादह झमेले में न पड़ा रहने दूँगी। सच मुच तुम दोनों पति-पत्नी हो। धर्म को साक्षी कर के तुम्हारा विवाह किया गया था। ’

मुन्नी के सूखे गालों पर एक हलकी लाली दौड़ गई। लल्ला दम-भर के लिये सन्नाटे में आ गया। फिर सँभल कर बोला– ‘ क्या कह रही हो फू फू ? तुम्हारी बातें समझ में नहीं आतीं। ’

रानी ने कहा– ‘ बेटा, तुम्हारे विवाह की कहानी बड़ी करूणा-पूर्ण है। उन दिनों मुन्नी के पिता अलीगढ़ में डिपुटी कलेक्टर थे। उनके कई बच्चे हुए, पर एक-एक कर सभी गुजर गए। जब उनका बुढ़ापा आ गया, तो वह अपना सूना घर देखकर बहुत ही दुखी–बहुत ही उदास हुए। अन्त में एक दिन तुम सहसा उनकी गोद में आ पहुँचे। तुम उनके एक प्रिय मित्र के पुत्र हो, तुम्हारी मा तुम्हें केवल दो वर्ष का छोड़ मरी थी। तब तुम्हारे बूढ़े पिता ने तुम्हें मुन्नी के पिता की गोद में डाल दिया और कहा– ‘ भाई, मेरी आशाओं के एक मात्र आधार इस बच्चे को अब तुन्हीं पालो–पोसो। ’ इसके थोड़े दिन बाद ही तुम्हारे पिता का देहान्त हो गया। तब मुन्नी के पिता ने उनकी सब जायदाद बेचकर, कुल रुपए तुम्हारे नाम से बेङ्क में जमा कर दिए। ’

‘ तुम्हें पाकर मुन्नी के माता–पिता अपना सब दुःख भूल गये और अपने जाए बेटे कें समान तुम्हारा लालन-पालत करने लगे। अभी तुम्हें उनके घर में आए पूरा एक वर्ष भी न हुआ था कि उनका सारा जीवन एक नई खुशी से चहक उठा। तुम्हारी चिर–संगिनी मुन्नी ने जन्म लिया। लल्ला बड़ा भाग्यवान् है, यह समझकर वह तुम पर और भी प्रेम करने लगे। ’

' अभी मुन्नी पूरे एक वर्ष की भी न होने पाई थी कि इसकी माता बीमार हुई और बेचारी आठ ही दिन की बीमारी में चल बसी। तुम्हारे कुछ भी सुख न देख पाई, अरमान-भरी ही चली गई। मुन्नी की माता का देहान्त क्या हुआ, मुन्नी के पिता पर वज्र गिर पड़ा। तुम दोनों की देख-भाल करने के लिये वह मुझे मेरी ससुराल से अपने यहाँ खींच लाए। मैं दूर के रिश्ते में उनकी बहिन होती हूं। बचपन में ही विधवा हो गई थी। ससुराल में पशु से भी गए-बीते जीवन में अपने दिन बिता रही थी। तुम दोनों के बहाने उस नरक से मेरा उद्धार हुआ और मैं स्वर्ग में आ पहुंची। भैया तुम दोनों को मुझे सौंपकर बोले–' बहिन, अब तुम्हीं इन बच्चों की मा हो, चाहे इन्हें मारो, चाहे पालो। ' तुम दोनों को गोद में लेकर मैं निहाल हो गई।

एक दिन सहसा भैया ने मुझ से कहा– ' बहिन, यदि इन दोनों बच्चों की शादी कर दी जाय, तो कैसा ? '

' उस समय तुम कोई पांच वर्ष के रहे होगे, मुन्नी लगभग दो वर्ष की थी। मैंने उनसे कहा– ' भैया, यह क्या खेल करते हो ? '

इस पर उन्होंने उत्तर दिया– ' खेल तो होगा ही बहिन; पर एक अरमान पूरा हो जायगा। जितने बच्चे हुए, मुन्नी को छोड़कर सभी ईश्वर ने उठा लिए। पत्नी थी, वह बुढ़ापे में दगा दे गई। जीवनका कोई हौसला पूरा न हुआ। अब बुढ़ापे में यह बच्ची बची है, और लड़का भी ईश्वर ने घर बैठे भेज दिया है, तो यही खेल खेल लूं। कहीं मर गया, तो यह अरमान भी साथ चला जायगा। बहुत होगा, तो कुछ लोग नाम धरते रहेंगे; मेरी बला से। ' यह कहते कहते–उनकी आंखें भर आईं। '

' मेरा भी जी भर आया और मैंने उनसे कह दिया–' अच्छा है भैया, मैं भी यह खेल देखकर अपना हृदय ठण्ढा कर लूंगी। बड़ा आनन्द रहेगा, हमारे घर में बाल-दम्पति ! उनका वह प्रेम कितना स्वच्छ होगा। विवाह

का ऐसा सुन्दर खेल शायद किसी ने न देखा होगा। '

' भैया सुनकर हंसे और बोले-' ठीक कहती हो बहिन ! यही खेल देखने के लिये मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। हम बहुत दिन तक यह खेल देखेंगे और अपने जलते हुए हृदय ठण्डे करेंगे। समय आने पर, बच्चों के सामने इस रहस्य की गुत्थी खोल दी जायगी, तब उनको कितना आश्चर्य-कितना कौतूहल होगा ! वह आनन्द भी देखने योग्य रहेगा। '

' बस, अलीगढ़ में ही बड़ी धूम-धाम से तुम दोनों का विवाह हुआ। इसके बाद भैया पेंशन लेकर यहां चले आए। उन्होंने बड़ी साध से तुम लोगों के लिये यह हवेली बनवाई। परन्तु हाय, उनकी अभिलाषा पूरी न होने पाई। हृदय ललकता ही रह गया। वह बहुत दिन तक तुम लोगों का यह खेल न देखने पाए। उस साल हैज़े के एक ही झटके ने उनके प्राण ले लिए-वह स्वर्ग चले गए। '

यह कहते-कहते रानी रोने लगीं। लल्ला और मुन्नी की आँखों से भी आँसू बहने लगे।

पराजित

भारत की छाती पर चिता के समान धधकता हुआ राजपूताना, और उसकी गोद में मस्ती से पड़ा हुआ अरावली पर्वत—ये दोनों आज भी पुकार-पुकार कर उन दिनों की याद दिला रहे हैं, जब वहाँ शक्ति और साहस के पुजारी एवं वीरता के धनी बाँके राजपूत शेर के समान बेखटके घूमा करते थे, जिनकी मद-भरी हुङ्कारों से आसमान काँप उठता था, धरती थरथराने लगती थी, और जब वह खून की होली खेलने को तैयार होते थे, तो उनकी तलवारों की झङ्कार से दूर-दूर तक का वायु मण्डल रह-रह कर गूँजने लगता था, जिसे सुनकर बहादुरों की छातियाँ फूल उठती थीं और कायरों के पित्ते बर्फ़ के समान गल-गलकर पानी होने लगते थे।

उसी राजपूताने की—उसी अरावली की कोई चार सौ वर्ष पहले की बात है। उस दिन शरद्वती नदी इठलाती और बल खाती हुई बह रही थी।

जल की तीव्र धारा चट्टानों से टकराती, उछलती, कूदती और लहराती हुई न जाने किस दूर देश को चली जा रही थी। अरावली की घाटियों में दूर-दूर तक शरद्वती का वह भैरव नाद गूँज रहा था। बीच-बीच में हवा के प्रचण्ड झोंके आते और लता–वृक्षों के ढेर–के ढेर पके और सूखे पत्ते शरद्वती के चंचल अँचल पर बरस जाते थे। पत्ते अस्थिर चित्त व्यक्ति के समान जल तरङ्गों पर डगमगाते हुए आगे की राह लेते थे।

सन्ध्या हो रही थी। सूर्य का प्रकाश क्षण-क्षण पर फीका हो रहा था और उसकी कोमल किरणें जल धारा पर नाचती, तथा पर्वत शृङ्गोंसे आँख–मिचौनी खेलती हुई क्रमशः क्षितिज के अंचल में छिपती जाती थीं। क्षितिज पर दूर-दूर तक सुर्खी फैल रही थी। पक्षी नाना प्रकार के कल–रव करते हुए धीरे-धीरे अपने बसेरों की ओर उड़ जा रहे थे। चारों ओर शान्ति छाई हुई थी। परन्तु दृश्य अत्यन्त मनोरम होने पर भी भीषण था। जहाँ तक नज़र जाती थी, निर्जन और सूखा वन प्रदेश दिखाई देता था, पर्वत की नङ्गी और काली चोटियाँ चारों ओर पिशाच के समान सर उठाए हुए खड़ी थीं और उन पर अन्धकार धीरे–धीरे अपनी झीनी चादर डाल रहा था, मानों उस भीषण दृश्य पर और भी भीषणता बिखेर रहा था।

अभी प्रकृति का यह शृङ्गार हो ही रहा था कि एक पगडण्डी से एक बालिका चंचल गति से आती हुई दिखाई दी। वह कभी पीछे देखती थी, कभी आगे और कभी अगल–बगल में; जैसे चंचल मृगी अपने चारों ओर देखती है। बालिका एक टेकड़ी पर पहुँचकर रुक गई और एक झूमती हुई लता को पकड़कर यहाँ–वहाँ नज़र फेंकने लगी। वह कभी डूबते हुए सूर्य की ओर देखती थी, कभी दूर-दूर तक फैले हुए पर्वत शृङ्गों को ताकती थी और कभी नीचे बहते हुए स्वच्छ जल को निहारने लगती थी, मानों वह प्राकृतिक शोभा देखते हुए उसकी आँखों की प्यास बुझती ही न थी। बालिका की उमर लगभग पन्द्रह सोलह वर्ष की रही होगी। उसका रङ्ग

अत्यन्त गोरा था, रुप बहुत ही सुन्दर और सुपुष्ट अङ्गों से लावण्य की आभा फूट रही थी। सफेद साड़ी पहने हुए वह बहुत ही भली मालूम होती थी। उस पहाड़ी भीषण स्थान में, जहाँ दिन-दोपहर को भी मर्द की हिम्मत पस्त हो जाती, बालिका इतनी बेफिक्री से खड़ी हुई थी, मानों वही उसका घर हो। हृदय को हिला डालने वाली रात्री की भीषणता दूर नहीं थी, परन्तु बालिका निश्चल मन से प्रकृति की शोभा देखने में तल्लीन थी, ठीक उसी तरह, जैसे कोई उद्यान की सैर करता है।

फिर बालिका टेकड़ी से नीचे उतरी, और धीरे धीरे चलकर जल–तट पर पड़े हुए एक शिला खण्ड पर जा बैठी। कुछ देर तक वह जल में उठते हुए सफेद फेन को, कलोलें करती हुई मछलियों को, और एक–एक लहर पर नाचते हुए पत्तों को देखती रही। फिर उसने हाथ–मुँह धोया, और धीरे–धीरे टेकड़ी की ओर पैर बढ़ाए। इसके बाद वह उसी–टेढ़ीमेढ़ी पगडण्डी पर चलने लगी। अभी वह कुछ ही आगे बढ़ी थी कि उसे किसी के कराहने की आवाज़ सुनाई दी। बालिका चकित होकर रुक गई और आंखें फैलाकर चारों ओर दूर–दूर तक ताकने लगी। परन्तु उसे कुछ भी दिखाई न दिया; हाँ; कराहने की धीमी आवाज़ उसी तरह सुनाई दे रही थी। अब बालिका उसी ओर चली, जहाँ से कराहने की आवाज़ आ रही थी। उसने कुछ देर तक यहाँ–वहाँ देखा, परन्तु केवल कराहने की आवाज़ सुन पड़ती थी, कराहनेवाले की छाया भी दिखाई न देती थी। बालिका को बड़ा ताज्जुब हुआ। उसने महीन, पर बुलन्द आवाज़ में कहा–' इस सुनसान स्थान में कौन कराह रहा है ? '

अब कराहने की आवाज़ बिलकुल बन्द हो गई। बालिका को और भी ताज्जुब हुआ। उसने फिर गले को बल–पूर्वक तेज़ कर सवाल किया–' जवाब क्यों नहीं दिया जाता ? कौन कराह रहा है–यह जाने बिना मैं यहाँ से हरगिज़ न हटूँगी। '

इस बार बालिका ने देखा कि सामनेवाली झाड़ी में से एक नौजवान का सर बाहर निकल रहा है। बालिका एकटक उसकी ओर ताकने लगी।

नौजवान झाड़ी से बाहर निकला और धीरे-धीरे चलकर बालिका के सामने आ बैठा। उसने बालिका को सर से पैर तक देखा और फिर कहा—'ओफ़! क्या तुम वनदेवी हो?'

युवक के होंठों पर मुसकिराहट की एक हलकी रेखा खिंच गई।

बालिका ने युवक पर एक तीखी नज़र डाली। युवक के मुखड़े पर अब भी मुसकान की रेखा खिंची हुई थी। 'नहीं, मैं देवी नहीं हूँ—आप ही के समान मेरा भी जन्म मनुष्य-जाति में हुआ है। और आप...?' कहते-कहते बालिका का माथा झुक गया और उसके कपोलों पर सुर्ख़ी दौड़ गई।

जवाब मिला—'मैं एक ऐसा ही अभागा प्राणी हूँ।'

बालिका ने पुनः सर उठाया और अपने बड़े रतनारे नेत्रों से एक बार युवक के चेहरे को अच्छी तरह देखने की कोशिश की। परन्तु इस बार भी उसकी गर्दन झुक गई। वह घड़ी-भर कुछ सोचती-सी रही, फिर बोली—'आप कब से यहाँ पड़े हुए हैं? जान पड़ता है, आप बहुत क्लान्त हैं, और आपने कुछ खाया-पिया भी नहीं है। क्या आप मेरी झोंपड़ी तक चल सकेंगे?' बालिका की कण्ठ-ध्वनि से ऐसा जान पड़ता था, जैसे उस के हृदय में संकोच और शिष्टाचार का द्वन्द्व हो रहा है।

युवक बड़े गौर से बालिका की ओर देख रहा था। बोला—'देवि, क्या तुम्हें इस बीहड़ और सुनसान वन में भय नहीं मालूम होता?' मानों उसने बालिका की बात सुनी ही नहीं।

'हम वनवासी वन से डरेंगे, तो रहेंगे कहाँ!' बालिका ने उत्तर दिया, और इस ध्वनि में दिया जैसे उसमें किंचित कातरता भरी हुई थी। फिर उसी तरह सर झुकाए हुए कहा—'हाँ, तो आप मेरी झोंपड़ी को पवित्र कर सकेंगे?'

युवक झाड़ी का सहारा लेकर खड़ा हो गया और बालिका के पीछे-पीछे चलने लगा। कोई आध घण्टे में दोनों एक झोंपड़ी के सामने जा पहुँचे बालिका भीतर गई और एक लोटे में जल भर लाई। युवक ने हाथ-मुँह धोया। तब तक बालिका ने एक कुशासन बिछाया और खाने के लिये कुछ कन्द-मूल-फल लाकर रख दिए। युवकने बड़ी रुचि से पेट-पूजा की और एक लोटा ठण्डा पानी पीकर अपनी क्लान्ति दूर की। इसके बाद वह बालिका की बिछाई हुई तृण-शैया पर जाकर लेट रहा और थोड़ी ही देर में सो गया।

× × ×

दूसरे दिन सवेरे बालिका ने आकर देखा कि युवक जाग उठा है और चुपचाप अरावली की ओर ताक रहा है, मानों किसी सोच में डूबा हुआ है। बालिका घड़ी-भर उसकी ओर देखती रही। इतने में युवक ने नज़र घुमाई। सामने बालिका को देखते ही उसका चेहरा खिल उठा। उसने कहा-'देवि, तुम आ गईं? मैं तुम्हारी ही बात सोच रहा था। बार-बार मेरे मन में यही विचार दौड़ रहे थे कि मुझे प्राण-दान देनेवाली कौन है और वह इस प्रकार अकेली इस सुनसान प्रान्त में क्यों रहती है?'

युवक रात-भर आराम कर चुका था। उसकी सारी थकावट दूर हो गई थी, और अब उसके सुन्दर गौर वर्ण तथा सुदृढ़ शरीर के एक-एक रोम से तेज फूट रहा था। देखने में वह एक उच्च वंशीय राजपूत प्रतीत होता था। बालिका उसे बार-बार चौर-दृष्टि से देखती थी और उसकी तथा अपनी नज़र मिलते ही सर नीचा कर लेती थी। युवक ने फिर अपनी बड़ी-बड़ी चमकीली आँखें बालिका की ओर उठाई और कहा-'देवि, परिचय न होने पर भी मैं तुम से इस तरह बातें कर रहा हूँ। इसके लिये क्षमा चाहता हूँ। परन्तु जिसने मेरे साथ इतना उपकार किया है, क्या मुझे उसका परिचय मालूम हो सकेगा?'

'अतिथि, मेरा परिचय जानकर कुछ लाभ न उठा सकोगे। इतना ही समझ लो कि मैं मुसीबतों की मारी हुई एक अभागिनी और अनाथिनी बालिका हूँ।' ये शब्द बालिका ने इस प्रकार कहे, मानों उसका गला रुँध रहा हो और वह भीतर-ही-भीतर कातर हो रही हो।

'ऐं! तुम अनाथिनी हो? हो सकता है! परन्तु इतना रूप और इतने गुण पाने पर तुम अभागिनी कदापि नहीं हो सकतीं। जान पड़ता है तुम्हारे हृदय पर कोई गहरी चोट लगी है, जो मेरे सवाल से पुनः ताज़ी हो गई है। परन्तु कोई हर्ज नहीं, तुम अपना परिचय दो। यदि मुझसे बन सका, तो मैं यथा शक्ति तुम्हारी सहायता भी करूँगा।' युवक सहानुभूति-पूर्ण स्वर में बोला।

'आपने सरदार गजपाल सिंह का नाम सुना है? मैं उन्हीं की बेटी हूँ। कालिन्दी मेरा नाम है।'

'अच्छा! तुम उन्हीं गजपाल सिंह की बेटी हो, जिनकी वीरता की कहानियाँ आज मेवाड़ में घर-घर कही-सुनी जाती हैं?'

'जी हाँ! आपको उस समय का हाल मालूम है, जब मालवे के बादशाह मुहम्मदशाह और हमारे महाराज मेवाड़-पति सङ्ग्राम सिंह में घोर युद्ध हुआ था? उस युद्ध में मेरे पिता ने जो वीरता दिखाई थी, वह मेवाड़ के क्षत्रियों को शायद आज भी याद होगी।'

'मुझे उस युद्ध का हाल अच्छी तरह मालूम है।'

'भीषण सङ्ग्राम के बाद मुहम्मदशाह की हार हुई और उन्होंने विवश होकर हमारे महाराणा से संधि कर ली। उस अवसर पर महाराणा की ओर से पिताजी ही बादशाह की राजधानी में भेजे गए। बादशाह वीर मनुष्यों को बहुत चाहते हैं। उन्होंने पिताजी का खूब सम्मान किया और उनको बड़े प्रेम से बहुत दिन तक अपने पास रक्खा। मेवाड़ में ऐसे क्षत्रियों की कमी न थी, जिनकी आँखों में पिताजी का यश और सम्मान शूल के

समान चुभा करता था। यह अवसर देखकर उन नीचों ने पिता जी के विरुद्ध महाराणा के कान भरे। मुझे कहते हुए दुःख होता है कि सङ्ग्राम सिंह शिशोदियों के पवित्र सिंहासन के अधिकारी हैं और लाखों प्रजा के भाग्य विधाता बने बैठे हैं; पर उन्होंने मेरे पिता के साथ न्याय नहीं किया। चापलूसों की बातों में आकर उनकी जागीर ज़ब्त कर ली; इतना ही नहीं, उन्हें बन्दी करने की भी आज्ञा दे दी। परन्तु पिता जी को यह हाल मालूम हो गया। वह मुझे लेकर इसी वन में भाग आए और बन्दी होने के भय से यहीं रहने लगे। इस अन्याय से—इस अपमान से वह इतने मर्माहत हुए कि अन्त में पागल हो गए। इसी दुख में उनका देहान्त भी हो गया। उनके मरने के बाद आज दो वर्ष से मैं यहीं रहती हूँ। मेरी माता का देहान्त पहले ही हो गया था। इस समय केवल मेरी दाई ही मेरे साथ है।' यह कहते-कहते कालिन्दी का गला भर आया और उसके नेत्रों से टप्-टप् आँसू गिरने लगे।

'ओफ़! इतनी दुख-पूर्ण स्थिति! सङ्ग्राम सिंह जैसे न्याय-प्रिय और प्रजा-वत्सल नरेश! नहीं—'

'होंगे! मुझे इससे क्या मतलब?'—कालिन्दी ने बात काटकर कहा—'मेरे पिता के साथ तो उन्होंने नीचता ही की। मेरे निरपराध पिता की मृत्यु का और मेरी इस आपत्ति का कारण कौन है? निस्सन्देह तुम्हारे न्यायी और प्रजा-पोषक महाराणा! अफ़सोस! मैं मर्द न हुई; परन्तु कोई हर्ज नहीं, मैं राजपूत की बेटी हूँ।'

मारे क्रोधावेश के कालिन्दी का गला रुँध गया। क्षण-भर के बाद उसने अपनी चोली से एक खंजर बाहर निकाला और उसे हवा में तानकर कहा—'यह चमकदार खंज़र देखते हो? मौक़ा मिला, तो इसी की धार से तुम्हारे दूध के धोए महाराणा की छाती फाड़कर, पिता के उस नीच अपमान का बदला लूँगी।' उसके स्वर में कठोरता थी, शरीर में

कम्पन हो रहा था और नेत्रों से चिनगारियाँ उड़ रही थीं।

युवक ने कालिन्दी की ओर देखा, तो उसे मालूम हुआ कि उसका सम्पूर्ण मुख-मण्डल तमतमा रहा है। कालिन्दी ने ज्यों ही दृष्टि ऊँची की, तो युवक को अपनी ओर देखते पाया। नज़रें चार होते ही उसने सर नीचा कर लिया और अपने को सँभाल कर कहा—'यदि मेरे मुँह से कोई अनुचित बात निकल गई हो, तो क्षमा कीजिएगा। पिता के अपमान की याद आते ही मैं पागल हो जाती हूँ। क्या मैं जान सकती हूँ कि आपने अपने जन्म से किस कुल को भूषित किया है? आप का शुभ नाम क्या है और कल आप ऐसी स्थिति को क्योंकर प्राप्त हुए थे?'

परन्तु युवक ने कुछ उत्तर न दिया, मानों इस ओर उसका ध्यान ही न था। उसके नेत्र सुर्ख़ हो रहे थे और वह ऊपर-नीचे सा देख रहा था, जैसे उसके अन्तःकरण में विचारों की हलचल-सी हो रही थी।

'आपको मेरी बातों से खेद तो नहीं हुआ?' कालिन्दी ने पुनः पूंछा।

'खेद!'—युवक ने सावधान होकर उत्तर दिया—'छिः! भला खेद की बात ही क्या हुई!'

'तब आप अपना परिचय क्यों नहीं देते?'

'कालिन्दी, मेरा परिचय बहुत छोटा है। मैं महाराणा सङ्ग्राम सिंह का एक तुच्छ सेनापति हूँ। मेरा नाम कुमार सिंह——'

'कुमार सिंह! प्रतापगढ़ के राजा को अपने अतुल पराक्रम से पराभूत करनेवाले कुमार सिंह आप ही हैं?' कालिन्दी ने आश्चर्य-चकित हो युवक की बात काटते हुए पूंछा।

'हाँ! परन्तु गत वर्ष के अपमान से चिढ़कर वह मालवे के सुल्तान से जा मिला है, और अब मेवाड़ पर चढ़ाई करने की तैयारी में लगा हुआ है।'

'क्या वह लोग मेवाड़ पर चढ़ाई करने वाले हैं ?'

'हाँ ! और हमारे दुर्भाग्य से नागौर का राजा भी उनसे जा मिला है।'

'तब तो प्रसङ्ग कठिन है।'

'कठिन तो क्या है, पर महाराज को यह हाल मालूम हो जाना चाहिए। यदि कहीं तीन दिन के भीतर उनके पास ख़बर न पहुँची, तो परिणाम अवश्य ही बहुत भयङ्कर होगा। मैंने उनको यह ख़बर दे दी होती, पर प्रतापगढ़ के ठाकुरों ने मुझे कपट से क़ैद कर लिया था। भाग्यवश मैं उनके हाथों से निकल भागा और शरद्वती में कूद पड़ा। दो दिन तक तैरता रहा और कल उस स्थान को निरापद देख बाहर निकल सका।'

'क्या आप दो दिन तक भूखे-प्यासे ही पानी में रहे आए ?' कालिन्दी ने ताज्जुब से पूंछा।

'हाँ, और नदी में ऊँचे स्थान से कूदा था, जिस से बायें पैर में भी कुछ चोट आ गई थी।'

'अब आप का विचार कहाँ जाने का है ?'

'यही तो चिन्ता की बात है। परसों सुल्तान की सेना आवेगी। उसका प्रतिकार तो करना ही पड़ेगा, तब दोनों काम एक साथ कैसे हो सकेंगे ?'

कालिन्दी चुप हो रही। कुछ सोचने लगी। घड़ी-भर बाद बोली—'यदि मेरे योग्य कोई कार्य हो, तो कहिए, मैं तैयार हूँ।'

'परन्तु तुम तो महाराणा के रक्त की प्यासी हो।' युवक ने मुसकिरा कर कहा।

'अवश्य ही मैं महाराणा के विरूद्ध हूँ, परन्तु आपके विरूद्ध तो नहीं हूँ। मेवाड़ के विरुद्ध तो नहीं हूँ।' कालिन्दी ने लज्जित होकर सर झुका लिया। उस के होठों पर भी मुसकिराहट ने एक हलकी छाप लगा दी।

× × ×

दोपहरी ढल चुकी थी। कोई तीन बजे का समय था फिर भी सूरज

को चैन न थी। वह अब भी अविराम गति से अग्नि के तीर छोड़ रहा था और धरती धू धू करके जल रही थी। अरावली की सूखी और नंगी चोटियों का तो कहना ही क्या, वह तन्दूर के समान सुर्ख हो रही थीं। फिर भी एक किशोर बालक उनको जल्दी-जल्दी पार करने की कोशिश में निमग्न था। धूप की प्रखरता ने उसका बुरा हाल कर रक्खा था। गोरा मुँह प्रातः-कालीन सूर्य के समान लाल हो रहा था, और शरीर से पसीने की धाराएँ बह रही थीं। वह बार-बार साफे के छोर से अपना गला और माथा पोंछता था। क्रमशः उसकी चाल धीमी हो रही थी। अन्त में वह बेदम होकर हाँफते-हाँफते एक ऊँचे बरगद की छाया में जा बैठा और चारों ओर आशा-भरी दृष्टि से ताकने लगा। परन्तु दूर-दूर तक नंगे-वृक्षों और जलती हुई पहाड़ियों के सिवा कुछ दिखाई न देता था। बालक निराश हो गया और आप-ही-आप बोला-' ओफ़! प्यास के मारे गला कितनी बुरी तरह सूख गया है! और पानी का ठिकाना कोसों तक नहीं जान न पड़ता। तब क्या थोड़े-से पानी के अभाव में इसी बीहड़ पहाड़ में जान खोनी पड़ेगी? यदि दो ही घूँट पानी मिल जाता, तो......'

जब थोड़ी देर विश्राम करने के बाद थकावट कुछ कम हुई, शरीर में ज़रा दम आ गई और बरगद की शीतल छाया ने प्राणों को थोड़ा-सा सहारा दे दिया, तो बालक हिम्मत बाँधकर उठा और धीरे-धीरे एक टेकड़ी पर जा चढ़ा। वहाँ पहुँचने पर उसने फिर एक बार दूर-दूर तक नज़र दौड़ाई। इस बार उसे कुछ दूरी पर एक घाटी से धुआँ-सा उठता दीख पड़ा। उसने सोचा, वहाँ बस्ती अवश्य होगी। बस, वह उसी ओर चल पड़ा। जब आध घण्टे के बाद ऊबड़--खाबड़ धरती को पार करते हुए वहाँ पहुँचा, तो मालूम हुआ कि यहाँ न धरती है, न बस्ती है; है केवल झाड़ियों से भरा हुआ निचला और विस्तृत जंगली प्रदेश। बालक बेचैन हो उठा। उसकी आशा पर इतना तीव्र आघात हुआ कि वह उसे

बर्दाश्त न कर सका। बेचारा चकराकर एक झाड़ी की बिरली छाया में गिर पड़ा। होश था, पर न बोलने की हिम्मत थी, न उठकर बैठने की। ऐसा जान पड़ता था कि ऊपर आकाश और नीचे सारा वन-प्रदेश जोरों से घूम रहा है और उन्हीं के साथ उसके प्राण भी चक्कर खा रहे हैं, जैसे शरीर से निकल भागने के लिये छटपटा रहे हों।

प्राण शरीर से भागने के लिये जितनी जल्दी छटपटाने लगते हैं, उतनी जल्दी भागते कभी नहीं। यदि यह बात न होती, तो आदमी इच्छा करते ही मर जाता और तब यह संसार एकदम सुनसान हो जाता। बालक कहाँ तो दम तोड़ने की पूरी तैयारी कर चुका था, और कहाँ थोड़ी ही देर बाद जान बचाने के लिये जी-जान से तैयार हो गया। उसकी तबीयत कुछ शान्त हुई, तो आशा उसके साथ आँख-मिचौनी खेलने लगी। अब तो उसके क्षत्रिय-रक्त में एक तीव्र उफान आ गया, वह एक दम उठकर खड़ा हो गया, और उसके पीछे पीछे चल पड़ा--शायद यह शर्त लगाकर कि देखूँ, तुम कितना भागती हो और मैं तुम्हें पकड़ पाता हूँ, या नहीं। इस बार उसने सचमुच अपनी आशा को पकड़ लिया। अभी वह थोड़ी ही दूर चला था कि एक पहाड़ी की छाया में जा पहुँचा, जिसके एक कोने से एक पहाड़ी नाला निकल रहा था। स्वच्छ और शीतल जल की पतली धारा धीमी-धीमी कल-कल ध्वनि में न जानें, क्या क्या गाती हुई बही जा रही थी। बालक ने उस जल-स्रोत को वैसे ही देखा, जैसे कि कई दिन का भूका शेर अपने दाँव में आए हुए शिकार को देखता है। वह एक पेड़ की छाया में जा बैठा और घड़ी-भर तक सुस्ताता रहा। फिर उसने रुच-रुच कर हाथ-पैर धोए और अंजलि से पेट-भर पानी पिया। अब उसकी तबीयत वहाँ से उठने को चाहती ही न थी। वह बार-बार लुब्ध दृष्टि से स्फटिक के समान स्वच्छ जल को देखता और एकाध चुल्लू पी लेता था, फिर भी उसकी प्यास न बुझती थी।

बालक इस प्रकार अपने जी को हरा-भरा कर ही रहा था कि कुछ आवाज़-सी सुनकर चौंक पड़ा। वह फ़ुर्ती से उठकर खड़ा हो गया और ज्यों ही उसने पीछे घूमकर देखा, त्योंही मालूम हुआ कि चार-पाँच पठान सिपाही उसकी ओर घूर रहे हैं। उन हरबे-हथियारों से लैस क़द्दावर जवानों को देखते ही बालक सहम उठा और एक ओर भागा। इतने में एक सिपाही ने उसे ज़ोर से डाँटा-'खड़ा रह!'

बालक ने देखा, कि अब भागने में कुशल नहीं है, इसलिये वह जहाँ-का-तहाँ खड़ा हो रहा। इतने में सब सिपाही भी उसके पास आ पहुँचे।

'तू कौन है छोकरे?' उनमें से एक सिपाही ने पूंछा।

बालक चुप रहा।

'अबे, बोलता क्यों नहीं? क्या गूंगा है?' तुरन्त ही दूसरे ने चीख़कर कहा।

'लौंडा है भी कितना नमकीन। इसे तो लड़की होना चाहिए था। अल्लाह मियाँ ने बड़ी ग़लती की, जो लड़का बना दिया।' तीसरे ने अपने साथियों की ओर देखते हुए मुसकिराकर कहा।

'चुप रह! ज़्यादह बकबक न कर!' बालक गरजकर बोला। उसका मुखड़ा तमतमा उठा और नेत्र लाल हो गए।

'उफ़! लौंडा नमकीन ही नहीं है, इसकी आवाज़ भी ज़नानी है! कितनी मीठी-कितनी दिलकश!' चौथे ने हँसकर कहा।

सहन-शीलता की हद हो गई। बालक मारे जोश के थर-थर काँपने लगा और उसकी आँखों से खून बरसने लगा। उसने तड़पकर कमर से ख़ञ्जर निकाला और तौलकर चौथे सिपाही पर फेंक दिया। खंजर उसके हाथ में लगा, और उससे खून की धारा बह निकली। यह देखते ही सब सिपाही बालक पर झपटे। उनके सामने भला उस हाथियार-हीन बालक का क्या ज़ोर चलता? बेचारा तुरन्त क़ैद हो गया। सिपाही उसे अपने सरदार

के पास ले गए।

एक ऊंचे तख्त पर, जिस पर क़ीमती क़ालीन बिछा हुआ था, ज़र-दोज़ी के मोटे तकिये के सहारे पठानों का सरदार बैठा था। उसके पीछे और आजू-बाजू भीमकाय अङ्ग-रक्षक अपने-अपने भाले संभाले हुए निहायत अदब से खड़े थे। सरदार ठाठ-बाट और सूरत-शकल से शाहज़ादा मालूम होता था। सिपहियों ने उसे तीन बार जमीन चूम कर कोर्निश की और फिर दस्त-बस्ता खड़े हो, सब हाल सुनाते हुए उसके सामने कैदी बालक को पेश किया।

सरदार ने अपना रोबीला चेहरा बालक की ओर मुख़ातिब किया, उसे जलती हुई आँखों से देखा—और गरजकर कहा-' छोकरे, तूने मेरे सिपाही पर हथियार क्यों चलाया ?'

' कौन ? यह ! यह सिपाही है ? यह तो बिलकुल शोहदा और कमीना है। इसने जैसा नीच व्यवहार किया, वैसा ही फल पाया।' बालक ने तड़पकर जवाब दिया।

' तू कौन है ?'

' मैं ? मैं एक ग़रीब मुसाफिर हूँ।'

' अच्छा ! तुझे जाना कहाँ है ?'

' मुझे ? मुझे यहीं थोड़ी दूर जाना है !'

' मालूम होता है, यह कोई जासूस है। नहीं तो ऐसे वक्त में इसे यहाँ आने की ज़रूरत ही क्या थी ! इसकी तलाशी लेनी चाहिए।' सरदार ने मिनट-भर सोचने के बाद कहा।

' नहीं, मैं जासूस नहीं हूँ। मेरी तलाशी लेने से आपको कुछ भी न मिलेगा। दयाकर मुझे छोड़ दीजिए।' बालक घबराकर बोला।

' घबराओ मत, तुम्हारी कोई चीज़ न छीनी जायगी। मैं केवल अपने काम की चीज़-भर लूँगा।' सरदार ने मुसकिराकर कहा और एक सिपाही

को हुक्म दिया–‘ अमजद, जरा इसकी तलाशी लेकर देखो तो....’

अमजद आगे बढ़ा और बालक की तलाशी लेने लगा। उसकी जेब में हाथ डालते ही उसे एक लिफ़ाफ़ा मिला। उसपर लिखा हुआ पता पढ़ते ही सरदार का चेहरा खिल उठा। वह कुछ कहना ही चाहता था कि एक सिपाही ने आकर उसे एक और पत्र दिया। उसे पढ़ते ही सरदार उठ खड़ा हुआ और बोला–‘ अमजद, सिपहसालार से कहो, वह अभी मेवाड़ की तरफ़ कूच करें। यह छोकरा भी साथ रहे। इस पर कड़ी नज़र रक्खी जाय। यह दुश्मन का जासूस है।’

× × ×

महाराणा सङ्ग्रामसिंह अपने कनक-प्रासाद की छत पर चुपचाप टहल रहे थे। उनके माथे पर चिन्ता की रेखाएँ खिंची हुई थीं और तेजस्वी मुखड़े पर विषाद ने अपनी श्यामल छाया डाल रक्खी थी। वह टहलते टहलते खड़े हो जाते और सर नीचा कर कुछ सोचने–सा लगते थे, फिर घड़ी भर बाद एक ठण्ढी साँस छोड़ टहलने लगते थे। महाराणा संग्रामसिंह अपने समय के अद्भुत वीर थे, जब लड़ाई पर जाते, तो प्राणों की माया त्याग लोहा लेते, थे,–घाव पर घाव खाते थे, खून में नहा जाते थे, पर क़दम पीछे न हटाते थे। लाशों को रौंदते हुए, खून की धारा को लाँघते हुए आगे बढ़ते थे, घड़ी–भर बाद क्या होगा–यह चिन्ता उनके पास फटकने भी न पाती थी। वही रण बाँकुरे राणा साँगा आज बेचैन थे, चिन्ता रह–रहकर उनके हृदय को नोच रही थी। बात यह थी कि आज दस दिन से उनके प्राण–प्रिय पुत्र युवराज रत्नसिंह का पता न था। युवराज के एक साथी ने केवल इतनी खबर दी थी कि वह प्रतापगढ़ के जङ्गल में सहसा गायब हो गए हैं। उसी दिन से उनकी तलाश हो रही थी। पर पता न चलता था कि वह शत्रु के हाथ पड़ गए या कहीं चले गए हैं। युवराज रत्नसिंह वीर थे, विनय–शील और सच्चरित्र थे। इसीलिये उनके लापता हो जाने

से सभी प्रजा चिन्तित हो उठी थी; तब सङ्ग्राम सिंह का क्या कहना, वह तो युवराज के पिता ही थे।

इतने में एक वृद्ध सरदार वहाँ उपस्थित हुआ। उसे देखते ही महाराणा किंचित आदर-पूर्वक बोले—'आओ देवी सिंह! मिली कुछ खबर?'

'क्या कहूँ महाराज, कुछ पता नहीं चलता। अभी-अभी कुमारसिंह के पास से सँदेसा लेकर एक गुप्तचर आया है।'

'पता नहीं चलता! कितने आश्चर्य की बात है! वह गया कहाँ?'

'यही तो चिन्ता की बात है महाराज! कुमार सिंह ने लिखा है कि केवल उनका घोड़ा चीखता हुआ वापिस आया। हमने उनको बहुत ढूँढ़ा, पर कुछ पता न चला।'

'क्या कहें, ईश्वरेच्छा!' महाराणा एक ठण्ढी साँस लेकर बोले—'और कुछ खबर?'

'खबर बुरी है महाराज! नागौर का राजा हम पर चढ़ाई करने की तैयारी में लगा हुआ है।'

'क्यों भला, हमने उसका क्या बिगाड़ा है?'

'सब अपना ही दुर्भाग्य है महाराज! इधर युवराज का पता नहीं है, उधर शत्रु घात में लगे हुए हैं। विपत्ति अकेली नहीं आती, दस बलाएँ साथ लेकर आती है'

इतने में एक दरबान ने आकर खबर दी कि युवराज पधार रहे हैं।

'रतन, तू इतने दिन से कहाँ था?'—युवराज के भीतर आते ही महाराणा क्रुद्ध होकर बोले।

'पिताजी, आप तो निश्चिन्त बैठे हैं। क्या आपको मेरा पत्र नहीं मिला?'

'कैसा पत्र? कहाँ का पत्र? मुझे तो कोई पत्र नहीं मिला।'

'तब जल्दी कीजिए। मालवे से शाहजादा रसूल बागड़ा दल-बादल

सेना लिए आ रहे हैं। मैं उनको रोकने के लिये केवल सौ सैनिक छोड़ आया हूँ और कुमारसिंह से कह आया हूँ कि वह फ़ौरन् मौक़े पर पहुँच कर अपने राजपूतों की सहायता करें।'

'परन्तु तुझे यह हाल मालूम कैसे हुआ?'

'मैं सहज ही घोड़े पर घूम रहा था। अचानक मुझे एक चीख़ सुनाई दी। पास पहुँचने पर क्या देखता हूँ कि एक मनुष्य बाघ को देखते ही चीख़ मारकर बेहोश हो गया है। मैंने बाघ मारकर उसकी रक्षा की। वहीं अचानक मुझे एक पत्र पड़ा मिला। उसे पढ़ने से मालूम हुआ कि मालवे के सुल्तान मेवाड़ पर चढ़ाई कर रहे हैं और उनसे प्रतापगढ़ तथा नागौर के राजा मिल गए हैं।'

'तभी! परन्तु बेटा, इतने दिन से तुम थे कहाँ? मैं कब से तुम्हारी राह देख रहा हूँ।'

'मैं वह पत्र पढ़ ही रहा था कि प्रतापगढ़ के ठाकुर के दस–बारह सैनिकों ने अचानक आक्रमण किया और मुझे क़ैद कर लिया। परन्तु मैं निकल भागा और शरद्वती में कूद पड़ा। दो दिन तैरने के बाद कहीं ठिकाना लगा। वहाँ एक क्षत्रिय–बालिकाने मुझे आश्रय दिया और मेरे प्राण बचाए। मैंने उसी के हाथ आपकी सेवा में पत्र भेजा था। मालूम नहीं, उसने उस पत्र का क्या किया।'

'ख़ैर, कोई हर्ज नहीं। तुम देवीसिंह के साथ जाना और नागौर के राजा का मुक़ाबिला करना। मेवाड़ की रक्षा मैं स्वतः करूँगा।'

'परन्तु पिताजी, मैं सब कुछ कर लूँगा। आपको कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं।' कुमार ने उत्साहपूर्वक कहा।

'नहीं रतन, तुम हारे-थके हो। आज आराम करो। इतनी चिन्ता की आवश्यकता नहीं। मैं अभी कुमारसिंह की सहायता करने जाऊँगा। देवीसिंह, तुम जाओ और सेनापति से कहो, वह अभी युद्ध–यात्रा की

तैयारी करें।'

यह सुन कर युवराज का मुँह मलीन हो गया।

× × ×

देखते–ही–देखते अरावली की घाटियाँ भीषण रण–ध्वनि से गूँज उठीं। युद्ध की मदिरा से छक कर वीर पागल हो उठे, और प्राणों को हथेली पर रख कर मरने को तैयार हो गए। एक ओर राजपूत थे, जो मृत्यु को वीरों का हास्य समझते थे। दूसरी ओर पठान वीर थे, जिनकी दृष्टि में युद्ध दिल-बहलाव की एक मामूली चीज़ थी। यद्यपि राजपूत मरने का अरमान रखते थे, तथापि शाहज़ादे के बहु-संख्यक बहादुरों के सामने उनके अरमान की क़ीमत ही क्या थी? फिर भी उन्होंने अरावली की गम्भीर घाटियों के सहारे दिन–भर पठानों को रोकने की कोशिश की। दूसरे दिन उनकी सहायता के लिये एक दल और आ पहुँचा। जैसे सान का स्पर्श पाते ही शस्त्र की धार चमक उठती है, उसी तरह इस सहायता के मिलते ही राजपूतों की वीरता और भी प्रखर हो गई। अब उन का हौसला हृदय में न समाता था। उन्होंने इरादा कर लिया कि जब तक शरीर में रक्त की एक भी बूँद रहेगी, तब तक पठानों को आगे न बढ़ने देंगे। अपने नायक का आदेश पाते ही राजपूतों ने व्यूह-रचना की और दृढ़ता–पूर्वक मेवाड़ का मार्ग अवरूद्ध कर दिया। पठान वीर भी अक्खड़ता से आगे बढ़े और व्यूह तोड़ने की चेष्टा करने लगे। परन्तु राजपूतों की सेना एक आग थी, जिसे स्पर्श करने से शेर झिझकते थे।

दो दिन तक राजपूतों और पठानों का यह मुहासिरा चलता रहा। तीसरे दिन महाराणा सङ्ग्रामसिंह अपनी बल-शालिनी सेना सहित वहाँ आ पहुँचे। शाहज़ादे की सेना देखकर हँसे और बोले–'शाह की युद्ध–पिपासा कितनी प्रबल है, जैसे बुझना ही नहीं चाहती। अभी दो वर्ष पहले की बात है, उनकी सेनाओं को इन्हीं घाटियों में कितना नीचा देखना पड़ा था।

पर उनकी रण–लालसा का वेग बरसाती नदी की धारा के समान कितना उद्दाम है! वह शिथिल होना जानता ही नहीं। अच्छी बात है। मैं सुल्तान की समर–वासना पूर्ण करूँगा।' फिर अपने वीरों से बोले–' मेरे प्यारे साथी सिपाहियो! लड़ो और खूब लड़ो। इस तरह लड़ो कि मेरे दोस्त सुल्तान की समर–पिपासा सदा के लिये शान्त हो जाय और फिर उनकी युद्ध–कामना शेष ही न रहे। मुझे आशा है कि तुम्हारा राजपूत–हृदय अपने इन वीर अतिथियों का स्वागत करने में किसी प्रकार की त्रुटि न करेगा।'

उधर शाहज़ादे ने पठानों से कहा–' मेरे बहादुर दोस्तो! जिन महाराणा साहब के लिये हम इतनी तकलीफ़ें सहकर यहाँ तक आए हैं; हमारी खुश किस्मती से वह खुद हमारे सामने आ पहुँचे हैं। अब हमारा फ़र्ज़ क्या है? यही और केवल यही कि हम महाराणा साहब को हरगिज़ चित्तौड़ वापिस न जानें दें एक बार उनको जरूर अपनी राजधानी में ले चलें और अपना मेहमान बनावें, ताकि हमारी रिआया भी देखले कि जिन महाराणा साहब की बहादुरी की शोहरत मुल्क के कोने–कोने में फैल रही है; वह यही हैं। अगर तुम ऐसा कर सके तो इसमें शक नहीं कि तारीख़ के सफ़ों में इस्लाम की सुर्ख़ी हमेशा चमकती रहेगी।'

इसके बाद दोनों दल एक–दूसरे का स्वागत करने के लिये उन दो मेघ–खण्डों के समान आगे बढ़े, जिनकी टक्कर से भीषण गर्जन होता है, ज़मीन और आसमान काँप उठते हैं और बिजली के कौंधने से दसों दिशाएँ जगमगा उठती हैं। तीरों की सन सनाहट, बन्दूकों की गड़गड़ाहट, नेज़ों की खटखटाहट, तलवारों की झङ्कार और आहतों के चीत्कार से अरावली की घाटियाँ इस प्रकार गूँज रही थीं, मानों मृत्यु का भीषण अट्टहास्य हो रहा हो और वह झपट–झपट कर वीरों को बड़े प्यार से अपनी गोद में उठा रही हो। कई दिन के रोमांचकारी युद्ध के बाद महाराणा ने देखा कि इस बार शाहज़ादे का बल कम नहीं है और वह विजय की असीम लालसा के

साथ ही मैदान में आए हैं। अब तो महाराणा चिन्तित हुए। कुछ सोचकर उन्होंने कुमारसिंह से कहा–'सेनापति, इस प्रकार के सम्मुख युद्ध से तो काम चलता दिखाई नहीं देता। सैनिकों की छोटी–छोटी टोलियाँ बनाओ और उनको आदेश कर दो कि वह जाकर घाटी में छिप रहें। जब अवसर देखें, अचानक शाहज़ादे के दल पर छापा मारें। बस, मेवाड़ के गौरव को सुरक्षित बनाए रखने की अब यही अव्यर्थ युक्ति हमारे हाथ में शेष रह गई है।' कुमारसिंह ने तुरन्त महाराणा के आदेश का पालन किया।

देखते–ही–देखते युद्ध की गति बदल गई। राजपूत जभी पठान सेना को असावधान देखते, तभी उस पर टूट पड़ते और मार–काट मचाकर घाटियों में जा छिपते। एक तो विराना देश, दूसरे अरावली की अपरिचित और दुर्भेद्य घाटियाँ, तीसरे आग बरसानेवाली प्रचण्ड गर्मी का मौसम, शीघ्र ही पठान-सेना त्रस्त हो गई–यहाँ तक कि उसे भोजन मिलना भी मुश्किल हो गया। युद्ध का यह रङ्ग देखा, तो शाहज़ादे के हौसले पस्त हो गए। उन्होंने अपने सरदारों से सलाह–मशविरा किया और हवा में सफ़ेद झण्डा उड़ा दिया।

भला महाराणा किस क़ायदे से इस सन्धि-सन्देश की उपेक्षा करते? अन्त में दूतों की कितनी ही दौड़ धूपके पश्चात् एक सुन्दर वन–प्रदेश में सन्धि–परिषद् बैठने का निश्चय हुआ। यह स्थान अरावली के ही अञ्चल में था–शाहज़ादे की छावनी से क़रीब दो मील के फ़ासले पर। महाराणा निश्चित समय पर अपने प्रमुख सरदारों और कुछ चुने हुए सैनिकों के साथ सन्धि–स्थल की ओर चले। अभी वह ठिकाने पर पहुँच ही रहे थे कि सहस्र हज़ार–पन्द्रह सौ पठान् वीरों ने उनको चारों ओर से घेर लिया। सन्धि–स्थल ने समर-भूमि का स्वरुप धारण किया और ज़ोरों से लोहा बजने लगा। महाराणा के सैनिक जी–जान से लड़ रहे थे; परन्तु पठान वीर खिसियाये हुए थे और उनके रोम–रोम में प्रतिहिंसा की आग धधक

रही थी। इस समय वह अत्यन्त भयङ्कर हो उठे थे। नतीजा यह हुआ कि महाराणा का एक–एक सिपाही कट-कटकर धरती पर गिरने लगा। महाराणा भी बुरी तरह आहत हुए और बेहोश होकर धरती पर जा गिरे।

ठीक इसी समय हज़ार–बारह सौ राजपूतों के साथ कुमारसिंह वहाँ आ पहुँचा और आँधी के समान पठानों पर टूट पड़ा। पठानों का क्षुब्ध दल भी महाराणा और उनके साथियों को छोड़ कुमरसिंह से भिड़ गया। इतने में शाहज़ादे की छावनी की ओर से वहाँ एक बालक आ पहुँचा। वह घोड़े पर सवार था और तीर-वेग से आया था। आहत महाराणा के निकट आते ही वह धरती पर कूद पड़ा। महाराणा होश में आ चुके थे और अचरज-भरी निगाहों से बालक की ओर देख रहे थे। बालक ने उनसे कहा– 'श्रीमान् का जीवन खतरे में है। कृपा कर फ़ौरन् मेरे साथ घोड़े पर सवार हो जाइए। अधिक सोच–विचार का समय नहीं है।' इस समय भी वहाँ दो– एक पठान मौजूद थे। उन्होंने बालक के कार्य में बाधा डालने की चेष्टा की। बालक ने अपनी तलवार सूंत कर उनसे कहा–'क्यों बेफ़ायदे अपनी जान खोते हो! नहीं तो, मैं तो मरूँगा ही, पर तुम्हें भी ले मरूँगा।' बालक का यह साहस देख महाराणा का जोश भी भड़क उठा और उन्होंने अपनी तलवार सूंत ली। इसके बाद दोनों झपटकर घोड़े पर सवार हुए और घोड़ा छावनी की ओर हवा हो गया। यह कार्य पलक मारते हुआ और पठान वीर देखते के देखते रह गए।

यह छोटा–सा सिपाही वही बालक था, जिसे उस दिन चार पाँच पठानों ने पकड़ लिया था और उनके सरदार ने जासूस होने के सन्देह में कैद कर रक्खा था।

× × ×

युद्ध समाप्त हो चुका था। चारों ओर युवराज रत्नसिंह और सेनापति कुमार-सिंह के पराक्रम की प्रशंसा हो रही थी। रत्नसिंह ने प्रतापगढ़ और नागौर के

नरेशों का अभिमान चूर किया था और कुमारसिंह ने अपना बलिदान देकर महाराणा का नमक अदा किया था और मेवाड़ के गौरव की रक्षा की थी। प्रतापगढ़ और नागौर के ठाकुर फन पटक कर शान्त हो गए थे, तथा शाहज़ादा रसूल अपनी बहादुरी खोकर चुपचाप मालवे को लौट गए थे। परन्तु विजयी महाराणा घावों की पीड़ा से खाट पर पड़े कराह रहे थे। राजधानी पहुँचने तक उनकी सेवा उसी वीर बालक ने की थी, और अब भी वह उनकी सेवा किए जाता था। परन्तु बेचारा हमेशा उदास रहता था, जैसे कोई अव्यक्त वेदना भीतर-ही भीतर उसके अन्तःकरण को धीरे धीरे मसला करती थी।

महाराणा चुपचाप बालक की ओर देखते और मन-ही-मन सोचा करते, यह सुशील बालक कौन है? भगवान् ने इसे कितनी उपकार-बुद्धि दी है! कितनी लगन से मेरी सेवा कर रहा है। यदि उस दिन यह वहाँ ईश्वरीय सहायता की भाँति न आ पहुँचता, तो आज मैं इस मृत्यु-लोक में दिखाई भी न देता। इसने मुझे अपने ऋण-भार से कितना दबा दिया है।

जब महाराणा कुछ स्वस्थ हुए और चलने-फिरने योग्य हो गए तब उन्होंने एक दिन बालक के सर पर हाथ फेरते हुए कहा—'बेटा, तुम कौन हो? क्यों इतने प्रेम से मेरी सेवा कर रहे हो?'

'क्या बतलाऊँ महाराज, मैं कौन हूँ! मैं एक ऐसा अनाथ बालक हूँ, जिसका इस संसार में कोई सगा साथी या नेही-नातेदार नहीं है। और मैं आपकी सेवा क्यों कर रहा हूँ—यह मैं स्वयं नहीं जानता।' बालक ने उत्तर दिया। उसकी ध्वनि ऐसी थी, मानों उस में करुणा नाच रही थी।

'बेटा, दुःखी मत हो!'— महाराणा ने पुनः उसके सर पर हाथ फेरते हुए कहा—'मेरे रहते कोई तुम्हें अनाथ नहीं कह सकता। बेखटके अपना परिचय दो।'

'मेरे परिचय से श्रीमान् सुखी न होंगे।'

'क्यों ?'—महाराणा ने ताज्जुब से बालक की ओर देखा और कहा—'मैं तो ऐसी कोई बात नहीं देखता, कि तुम्हारे परिचय से मुझे दुःख पहुँचे। तुम्हें देखकर—तुम्हारी सेवा देखकर मेरे हृदय में न जानें क्यों प्रेम उमड़ने लगता है। जब तुमने मेरे साथ इतना उपकार किया है, तो तुम्हारा इतिहास जाने बिना मुझे कैसे शान्ति मिल सकती है ?'

'तो बतला ही दूँ ?'—बालक ने जोश खाकर कहा—'मैं सरदार गजपालसिंह की बेटी हूँ, जो आपके अपूर्व भक्त थे और जिन्हें आपने पूरी तरह बरबाद कर दिया था। आह ! पिताजी ने अपमान की आग में जलते हुए किस प्रकार तड़प तड़प कर प्राण त्यागे थे।' कालिन्दी की आँखें डबडबा आईं।

'ऐं ! क्या तुम सरदार गजपालसिंह की बेटी हो ?'

महाराणा ताज्जुब से कालिन्दी की ओर देख रहे थे।

'जी हाँ !'—कालिन्दी ने उसी लहजे में उत्तर दिया—'क्या आप को मेरी बात का विश्वास नहीं होता ?'

'तब तुमने मेरे साथ यह उपकार क्यों किया ?'

'इसलिये कि आप शत्रु के हाथ न मारे जायँ और जब स्वस्थ हो जायँ, तो अवसर पाने पर मैं आप से पिता के उस पैशाचिक अपमान का बदला लेने की चेष्टा करूँ।'

कालिन्दी के स्वर में ओज था और नेत्रों में आग।

'तुम मुझ से बदला लोगी ?'—महाराणा हँसकर बोले—'तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं होता बेटी ! तुम सरदार गजपालसिंह की कन्या हो, और वह मेरे परम भक्त थे। अहा ! आज कितने आनन्द का दिन है ! मैंने अपने प्यारे सरदार को खोकर उसकी वीर कन्या को प्राप्त कर लिया है।'

यह कहते-कहते महाराणा सहसा उदास हो गए और एक ठण्ढी साँस

खींच कर बोले—' आह ! इस समय हमारा कुमारसिंह होता, तो यह आनन्द कितना बढ़ जाता ! '

यह सुनते ही कालिन्दी चौंक पड़ी और घबराकर बोली—' क्यों कुमारसिंह कहाँ गए ? '

' बेटी, मेरा वह प्यारा सेनापति इसी पापी युद्ध की भेंट हो गया ! '—महाराणा ने रुँधे हुए गले से कहा ' क्या कहूँ, मैंने इसी तरह अपने न जाने, कितने वीर साथी खो दिए हैं। आह ! तुम्हारे पिता कितने साहसी, कितने पराक्रमी और कैसे वीर योद्धा थे ! मेरे लिये सदा प्राण देने को उद्यत रहते थे। अपनी ही भूल से मैंने उनको भी खो दिया। वास्तव में उनके साथ मैंने बड़ा अन्याय किया था। बेटी, क्या उस पाप के लिये मुझे क्षमा कर सकोगी ? '

' क्षमा ! क्षमा मैं क्या करूँगी महाराज ! पिता की याद आने ही मेरी छाती फटने लगती है। '

कालिन्दी का हृदय मुँह को आने लगा और उसके नेत्रों से चौधार आँसू बरसने लगे।

महाराणा ने उसके सर पर पुनः हाथ फेरा और कहा—' छिः पगली ! रोती है ! गजपालसिंह के साथ जो अन्याय हो चुका है, मैं उसका प्रतिकार करूँगा। '

' प्रतिकार कैसे होगा महाराज ! '—कालिन्दी ने आँखें पोंछते-पोंछते कहा—' क्या पिताजी मुझे फिर मिल जायँगे ? '

' क्यों, प्रतिकार क्यों न होगा ? '—महाराणाह दृढ़ता-पूर्वक बोले—' गजपालसिंह तुझ पर कितना प्यार करते थे ? मैं उससे भी ज्यादा करूँगा। मैं तुझे चित्तौड़ की राज्य-लक्ष्मी बनाऊँगा। तू शीघ्र ही मेरी पुत्र-वधू होगी। गजपालसिंह की सम्पूर्ण सम्पत्ति ही क्यों—मेवाड़ की यह सब राज्य-श्री आज से तेरी है। '

यह कह कर महाराणा वहाँ से चले गये। परन्तु कालिन्दी के आँसू धार बाँधकर बहते ही रहे।

× × ×

कालिन्दी महाराणा के मनोरम उद्यान में सङ्गमर्मर के एक सुन्दर चबूतरे पर बैठी हुई थी। सन्ध्या हो रही थी। सूर्य अपनी किरणें समेटता हुआ धीरे–धीरे क्षितिज की ओर खिसक रहा था। हरी-भरी वाटिका ने धूमिल चादर ओढ़ रक्खी थी। स्वच्छ वायु फूलों से सुगन्ध बटोर-बटोर कर मतवाली चाल से यहाँ-वहाँ बह रही थी। परन्तु कालिन्दी के लावण्य-पूर्ण मुखड़े पर गहरी उदासी छाई हुई थी। वह चिन्ता-मग्न थी और रह-रह कर ठण्ढी साँसें छोड़ती थी। उसके हृदय में जो आग लगी थी, वह बगीचे की शीतलता पा और भी धधक उठी थी, और अन्त में आँखों की राह पानी बन कर बहने लगी थी।

इतने में वहाँ धीरे-धीरे एक युवक आया और चुपचाप कालिन्दी के पीछे खड़ा हो गया। फिर उसने धीमी और मीठी आवाज़ में पुकारा–
'वनदेवी!'

कालिन्दी ने चौंककर पीछे की ओर सर घुमाया। युवक को देखते ही वह उछल कर खड़ी हो गई और एक चीख़ मार कर धरती पर गिर पड़ी। इसी के साथ उसे बेहोशी ने दबा दिया।

युवक ने फ़ौरन् कालिन्दी को अपने बलिष्ठ हाथों से फूल के समान उठा लिया। फिर वह चबूतरे पर पहुँचा और उसे अपनी गोद में लिटाकर, उसपर अपने उत्तरीय के छोर से हवा करने लगा। कालिन्दी मूर्छा के आवेग में बार बार बड़बड़ाती थी– 'कुमारसिंह–मेरे कुमारसिंह! तुम कहाँ हो?'

थोड़ी देर में कालिन्दी को होश आया। उसने आँखें खोल दीं। एक बार युवक को जी भर कर देखा। फिर आँखें बन्द कर मिनट–भर बाद

कहा–' उफ् ! मैं स्वप्न देख रही हूँ ! कितना सुन्दर स्वप्न है यह ! '

युवक ने कालिन्दी के सर पर हाथ फेरा और कहा–' मेरी वनदेवी ! तुम स्वप्न नहीं देख रही हो–आँखें खोलो ! '

कालिन्दी ने आँखें खोलीं और फिर युवक को ध्यान से देखकर कहा– ' तो क्या आपके स्वर्ग–वास की खबर झूठ है ? '

' सच भी है, झूठ भी है ! '

' अपका मतलब मेरी समझ में नहीं आता ! '

' तुम्हारे हृदय की समस्त शुभ कामनाओं ने मेरी रक्षा की है और मैं मरने के बाद भी जीवित हूँ । '

' आप क्या कह रहे हैं–मेरी समझ में नहीं आता ! '

' तो मैं क्या करूँ ! जो बात ठीक है, वही तो कह रहा हूँ । विश्वास न हो, तो आँखों से देख लो, अच्छी तरह समझ–बूझकर देख लो । '

' तुम तो बस, पहेली बूझते हो, असल बात बतलाते ही नहीं ' ।

' पहेली कहाँ बूझता हूँ, असल बात ही तो बतला रहा हूँ । यों समझ लो कि वास्तविक कुमारसिंह की मृत्यु हो गई है और मैं नक़ली कुमारसिंह हूँ । ' युवक ने मुसकिरा कर कहा ।

' मैं नादान स्त्री हूँ । मुझे क्यों उलझन में डाल रहे हो ? ' –कालिन्दी उठकर बैठ गई और तिनगकर बोली–' अच्छा, अब मैं तुम से न बोलूँगी, लो चली । ' कहती हुई वह उठकर खड़ी हो गई ।

' मेरी वनदेवी रूठती क्यों हो '–युवक ने कालिन्दी का हाथ पकड़ लिया और रस-पूर्ण स्वर में कहा–' कृपा कर बैठ जाओ । सच बात ही तो बतला रहा हूँ । वास्तव में सेनापति कुमारसिंह स्वर्ग-वासी हो गए हैं, और मैं महाराणा का ज्येष्ठ पुत्र रत्नसिंह हूँ । '

' ऐं ! क्या तुम्हीं मेवाड़ के युवराज हो ? ' कालिन्दी ने ताज्जुब प्रकट करते हुए कहा ।

'हाँ ! पर, तुम्हारे लिये तो मैं अब कुमारसिंह हूँ ।'

'तब उस दिन क्यों छल किया था ?'

'उस दिन परिस्थिति ही वैसी थी; फिर तुम भी तो महाराणाजी के प्रति अपना रोष प्रकट कर रही थीं ।'

, बड़े छलिया हो तुम ! बातों-ही-बातों में मुझे ठग लिया ।'

कालिन्दी कनखियों से युवराज को देख रही थी, उसकी आँखों में रोष था, होठों पर मुसकिराहट थी और कपोलों पर लज्जा की लालिमा ।

ममता

उस दिन नन्हूँ अपनी खपरैल के दालान में बैठा हुआ था। उसकी नज़र सामनेवाले छोटे-से मैदान में लगे हुए एक वृक्ष पर थी। वृक्ष अनार का था, खूब हरा भरा और बड़े बड़े फलों से लदा हुआ। जान पड़ता था, जैसे वृक्ष को देखकर नन्हूँ को बड़ा सन्तोष हो रहा हो, उसकी आत्मा भीतर ही भीतर मारे आनन्द के नाच रही हो।

एकाएक नन्हूँ का वह आत्म सुख भङ्ग हो गया।

सामने से एक आदमी आ रहा था; ढलती उमर, दाढ़ी और मूछें चढ़ी हुई, रङ्ग साँवला, सिर पर मूँगिया रङ्ग का बड़ा सा साफ़ा, शरीर पर मूँगिया रङ्ग की ही मिरज़ई, घुटने तक मटमैले रङ्ग की धोती पहने हुए, और पैरों में गर्द से भरा हुआ चमरौधा जूता। नन्हूँ ने उसे देखा, और देखकर वह बड़बड़ाया—"यह आफ़त आज यहाँ कहाँ आ पहुँची!"

जब वह आदमी निकट आ पहुँचा, तब नहूँ उठकर खड़ा हो गया।

दोनों की नज़रें चार हुईं। आगन्तुक मुसकुराया, पर नन्हूँ के होठों पर मुसकुराहट नहीं आई। उसने केवल 'आओ, पल्टू दादा!' कहकर आगन्तुक का स्वागत किया।

पल्टू गाँव के मालगुज़ार का नौकर था। उसने अपनी सेवाओं से मालगुज़ार साहब को अपनी मुट्ठी में कर रक्खा था। मालगुज़ार साहब एक बार चाहे अपने घरवालों की बात भले ही टुकरा दें; पर पल्टू की बात दुलखते उन्हें कभी किसी ने नहीं देखा। इस प्रकार पल्टू ने मालगुज़ार साहब के एक मुँह लगे मुसाहब का पद प्राप्त कर लिया था। मालगुज़ार साहब जहाँ जाते, चाहे मुक़द्दमा लड़ने, चाहे खेती पाती देखने और चाहे महज़ हवाखोरी करने; पल्टू उनके साथ ज़रूर रहता—ठीक छाया के समान। एक अदने-से नौकर पर मालगुज़ार की इतनी कृपा—इतनी दया होना साधारण बात नहीं होती। उस कृपा को—उस दया को लेकर वह नौकर खुद ही गाँव का छोटा मोटा मालिक बन बैठता है। पल्टू ने भी यही किया। उसने गँव भर पर अपना रोब गाँठ रक्खा था। लोग उससे डरते थे, और उसे मानते भी बहुत थे।

नन्हूँ ने खूँटे पर से टाट का एक टुकड़ा उतारा, और 'आओ पल्टू दादा, विराजो!' कहते हु ए लिपी पुती साफ़-सुथरी धरती पर बिछा दिया। पल्टू अकड़ कर, उस टाट के टुकड़े पर जा बैठा, शायद बादशाह भी इतनी शान से तख्त़ पर न बैठते होंगे। नन्हूँ उसके सामने ही कुछ हटकर बैठ गया।

'कहो नन्हूँ, खेती कैसी क्या है?' कहकर पल्टू ने बातचीत का सिलसिला शुरू किया।

"इस साल तो दादा, भगवान् की दया है। खेत खूब लहरा रहे हैं—हरे भरे हैं। आगे उनकी मर्ज़ी!" सन्तोष के स्वर में नन्हूँ ने उत्तर दिया।

"चलो अच्छा है। महीने-पन्द्रह रोज़ की देरी है। इस बार पारसाल

की बाकी और इस साल की तिहाई मजे में अदा हो जायगी। मालिक के स्वभाव को तो तुम जानते ही हो, वह पारसाल ही कौड़ी पाई से कुल जमा वसूल कर लेते। पर, मैंने समझा दिया, तो किसी तरह मान गए।" कहकर पल्टू मुसकुराया, और फिर अपनी मूछों पर हाथ फेरने लगा।

नन्हूँ के चेहरे पर उदासी की एक हलकी छाया ने झलक मारी। उसने ज़बर्दस्ती होठों पर एक क्षीण मुसकुराहट खींचकर उत्तर दिया—"तुम्हारा तो भरोसा ही है दादा!" फिर पूछा—"आज कहाँ भूल पड़े दादा?"

पल्टू खिलखिलाकर हँस पड़ा, बोला—"भूल पड़ने की तुमने एक ही कही। योंही एक काम से आ रहा था, तुम दिखाई पड़ गए। सोचा, घड़ी भर तुम्हारे पास ही बैठ लूँ, और एक चिलम तमाखू पीता चलूँ।"

नन्हूँ ने अपनी फटी फुई फतुही के खीसे में हाथ डाला, तमाखू की मैली, कुचैली छोटी-सी थैली के साथ चकमक पत्थर और गुड़हल का रोआँ निकाला। खड़े होकर आले में से चिलम उठाई। फिर चिलम भर कर 'लो दादा' कहते हुए पल्टू की ओर बढ़ा दी। पल्टू ने चिल्म मुँह से लगाई और नन्हूँ ने रोआँ जलाकर उस पर रख दिया। पल्टू चिलम पीने लगा, और पीते-पीते अनार के पेड़ की ओर देखने लगा। पेड़ पर उसकी जो नज़र गिर रही थी, उस में प्रसन्नता थी, लोलुपता भरी हुई थी। सहसा पल्टू को एक ठसका आया। उसने चिलम मुँह से हटा दी और धुआँ उगलते हुए कहा—"लो भाई नन्हूँ।"

नन्हूँ ने हाथ बढ़ाकर चिलम ले ली। पल्टू की खुशी और लालच भरी आँखें फिर पेड़ पर जा लगीं। पलभर के बाद उसने नन्हूँ के हाथ से चिलम लेते हुए कहा "वाह भई! तुमने यह पेड़ तो खूब पाला! ऐसा फला-फूला अनार तो अच्छे अच्छे बगीचों में भी न मिलेगा!"

नन्हूँ के होठों पर मुसकुराहट और आँखों में चमक की एक रेखा

दौड़ गई।

"फल खट्टे हैं या मीठे?" उसी सिलसिले में पल्टू ने पूछा।

होठों की मुसकुराहट होठों पर और आँखों की चमक आँखों में ही लीन हो गई। चेहरे पर भय का थोड़ा-सा भाव आया, आँखों में आशंका की झलक दिखाई दी। "मैंने चखे नहीं, इसी साल तो उतरे हैं।" सूखे गले से नन्हूँ ने उ .र दिया।

"अच्छा! दस-पाँच फल तोड़ो तो! मालिक के लिये लेता जाऊँगा। मीठे हुए, तो चखकर बहुत खुश होंगे। अपने गाँव में अनार है भी नहीं। तुमने मालिक को खुश करने के लिये यह अच्छा जरिया तैयार कर दिया।" पल्टू के स्वर में सत्ता थी, आज्ञा की उत्तेजना थी और लापरवाही के साथ छिपी हुई लोलुपता तथा चंचलता भी।

नन्हूँ सहम उठा। उसने असीम कातरता से भरी हुई एक दृष्टि अनार पर और दूसरी पल्टू के चेहरे पर डाली। फिर सिर नीचा कर लिया, जैसे उसकी आत्मा सोच और चिन्ता के असह्य भार से दबी जा रही थी।

नन्हूँ को शान्त-ज्यों का त्यों बैठा देख पल्टू ने उसे फिर आज्ञा दी—"क्या सोच रहे हो नन्हूँ? जल्दी करो। मुझे जाना है।"

"कैसे तोड़ूँ दादा!" कातर स्वर में नन्हूँ ने कहा।

"क्यों?"

सत्ता और भय के आघातों से कुचले हुए हृदय ने मुश्किल से अपने बिखरे हुए साहस को बटोरा और तब अपने काँपते हुए गले से उत्तर दिया—"कई बार इच्छा की, कुछ फल तोड़ूँ, मालिक की सेवा में ले जाऊँ, पुरा पड़ौस वालों को भी बाँट दूँ। पर, जब वृक्ष के पास जाता हूँ, तो हाथ नहीं उठता।"

"इसका मतलब?"

"मतलब क्या बतलाऊँ?"

"तब साफ़ क्यों नहीं कहते, कि तुम फल देना ही नहीं चाहते!" पल्टू तमककर खड़ा हो गया और बोला–"नन्हूँ, तुम जानते हो, मैं कौन हूँ! इस गाँव में कौन माई का लाल है, जो इस बुँदेले की बात को ठुलखने की हिम्मत रखता हो! खुद मालिक कभी मेरी बात नहीं टाल्ते। पर, तुमने मेरी बात को बात ही नहीं समझा। सोच लो, इसका नतीजा अच्छा न होगा। मैं तो समझता था, कि तुम सीधे-सादे आदमी हो, पर आज मालूम हुआ, कि तुम्हारे पंख निकल रहे हैं।"

"क्षमा करो दादा" कहते हुए नन्हूँ ने पल्टू के पैर पकड़ लिए। पर, "मैं क्षमा–वमा नहीं जानता" कहकर पल्टू लम्बे-लम्बे पैर बढ़ाता हुआ चला गया। और नन्हूँ! वह ग़रीब सन्नाटे के आलम में, उसकी ओर देखता हुआ जहाँ का तहाँ खड़ा रहा।

नन्हूँ की पत्नी किवाड़ों की ओट से, नन्हूँ और पल्टू की बातें सुन रही थी। पल्टू के जाते ही वह बाहर निकल आई। पति से बोली–"तुम्हें हो क्या गया है? तुम पल्टू दादा को जानते हो, फिर भी तुमने उन्हें नाराज़ कर दिया। यह अच्छा नहीं किया।" उसके स्वर में भय था, क्षोभ था, और एक प्रकार की दबी हुई दीनता।

"मैंने पल्टू दादा को नाराज़ कर दिया है? सुखिया की माँ, कहती क्या हो, मैंने पल्टू दादा को नाराज़ कर दिया है? मैंने तो उनसे कुछ नहीं कहा। उन्होंने मुझे अनार तोड़ने की आज्ञा दी; मैं नहीं तोड़ सका, कह दिया–दादा, अनार तोड़ने की मेरी हिम्मत नहीं होती। इसमें नाराज़ होने की तो कोई बात नहीं थी, फिर भी वह नाराज़ हो गए। मैंने उनके पैरों पर सिर रख दिया, फिर भी वह न पसीजे। बताओ, इसमें मेरा क्या अपराध?" नन्हूँ ने बिलकुल सहज भाव से उत्तर दिया।

"तुम तो बस, बेमतलब की बातें करते हो–अपने ही जैसा सब को समझते हो। पल्टू को जानते हो, तनिक में रूठ जाते हैं और फिर उनका

रूठना भी मामूली नहीं होता। समर्थ आदमी हैं, न जाने हम लोगों पर कौन–सी मुसीबत उठाकर पटक दें। हम ग़रीब आदमी ठहरे।" सहमे हुए स्वर में सुखिया की मां बोली।

"सुखिया की माँ, जब हम ग़रीब आदमी हैं, तब पल्टू दादा हम पर कौन–सी भारी मुसीबत पटक देंगे–ग़रीबी से बढ़कर तो कोई मुसीबत होती नहीं। फिर हमें किसी से डरने की क्या ज़रूरत ? हमारा कौन बैठा है ? सभी हमें ठुकरानेवाले हैं ! हमारी ग़रीबी पर–हमारे रोने पर किसी को दया तो आती नहीं। हम पर न यहाँ धनवान् पसीजते हैं, न वहाँ भगवान्। डरे वह, जो कहीं से दया पाने की–सहानुभूति प्राप्त करने की, आशा रखता हो। पल्टू दादा हमारा करेंगे क्या–बहुत होगा, फ़सल में आग लगवा देंगे, या गाँव में न रहने देंगे, या इसी झोंपड़ी में आग लगवाकर हमें रातों-रात जला डालेंगे। इससे अधिक वह और क्या कर सकते हैं ? अभी यहाँ रोते हैं, फिर और कहीं रोवेंगे। जब रोना ही है, तब रोने से डर कैसा ? वही–केवल वही तो हमारा साथी है !" कहते-कहते नन्हूँ के चेहरे पर एक गहरी उदासी छा गई। पर, उसके स्वर से जान पड़ता था, जैसे उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठी हो और साहस उसका साथ देने के लिये उत्सुक हो रहा हो।

परन्तु भोली–भाली स्त्री कुछ न समझ सकी, मानो उसने नन्हूँ की बातें सुनी ही नहीं। कहा–"जाओ, पल्टू दादा को मना लो, तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ।"

"कैसे ?"

"टोकरी भर अनार तोड़ ले जाओ। पल्टू के आगे रखना, और हाथ जोड़कर कहना "दादा, अपराध हो गया है। क्षमा करो।"

नन्हूँ की वाणी जैसे किसी कठिन चोट से कराह उठी "–आह ! सुखिया की माँ, तुम मेरी पत्नी होकर भी ऐसी बात कहती हो। अगर यही बात

होती, तो पल्टू दादा यहाँ से हँसते हुए न जाते। जो हाथ सदा इस मूक पेड़ की रचना के लिये उठते रहे हैं, वह भला अब उसी का नाश करने के लिये कैसे उठाऊँ ?"

सुखिया की माँ सूखी हँसी हँसकर बोली-"तुम तो पागल हो! भला लोग पेड़ पौधे लगाते ही किस लिये हैं!"

क्षण भर चुप रहने के बाद नन्हूँ ने कहा-"सुखिया की माँ, तुम मेरी पत्नी हो, मुझे पागल कह सकती हो, गँवार कह सकती हो, नादान कह सकती हो-सब कुछ कह सकती हो। पर अपने हृदय को टटोल कर तो देखो। तुम्हें वह दिन याद है, जब हमारी सुखिया, हमारी इस झोंपड़ी को सूनाकर चली गई थी, और मैं उसे खोकर सचमुच पागल हो गया था। मुझे न खाना पीना सुहाता था, न काम काज में मेरा मन लगता था। केवल सुखिया का नाम लेना, और उस नाम को लेते-लेते आँखों से आँसुओं की धारा बहाना भर मेरा काम रह गया था। तब तुम मेरी दशा देख अपने आँसू भूल गई थीं-अपने हृदय के फफोलों को भूल गई थीं, और केवल मुझे प्रसन्न करने के लिये कितनी चेष्टाएँ करती थीं। हम लोग बरसों सुखिया के लिये रोते रहे, भगवान् की ओर ताकते रहे; पर वह न पसीजे। उन्होंने हमारी सुखिया वापिस नहीं की। तब एक दिन हमारे प्रारब्ध ने, किसी तरह हमारे उस गहरे घाव पर मरहम लगाने की चेष्टा की। मैं शहर गया। बाज़ार में बिकते हुए एक छोटे-से पौधे पर मेरी नज़र पड़ी। उसने मेरे जी को अपनी ओर खींच लिया। मैं उसे मोल ले आया। वह झोंपड़ी के सामनेवाले मैदान में रोप दिया गया, जो आज हमें इस रूप में दिखाई दे रहा है। सुखिया की माँ, इसे इस रूप में देखने के लिये हमें क्या नहीं करना पड़ा! खेत की चिन्ता नहीं की, पर इसे ढेरों खाद खिलाया। अपने लिये पानी नहीं रक्खा, पर गर्मियों की कड़ी धूप में, जब गाँव के कुएँ सूख जाते थे, तब अपने पैर जलाकर, लू के तमाचे खाकर

मील भर दूर जाकर घड़ों पानी ढोया और इसे पिलाया। और, यह हम क्यों करते हैं? केवल इसीलिये न, कि इसकी चिन्ता में हम अपनी सुखिया को भूल जाते हैं! और इसे हरा-भरा देख कर हमारा जी प्रसन्न होता है। अब मैं यह नहीं जानता, कि यह बिरवा अनार का पेड़ है, या हमारी सुखिया है, या हमारे गहरे घाव पर लगा हुआ ठण्ढा मरहम। सुखिया की माँ, लोग बाग चाहे जिस मतलब से पेड़ पौधे लगाते हों; मैंने तो इस अनार को केवल इसलिये रोपा है, कि इसे देखकर अपने जी की जलन शान्त किया करूँ—अपनी आँखें हरी किया करूँ। इसे देखकर मेरे मन में लोभ की भावना नहीं उठती—केवल देखते रहने की इच्छा होती है। अहा! यदि पल्टू दादा भी इसे देखकर मेरी भाँति ही प्रसन्न होते, तो...."

अपने प्रिय जन को खोकर मनुष्य का प्रेम आकुल हो उठता है और उसी दशा में वह क्रमशः किसी नवीन वस्तु पर केन्द्रीभूत होने लगता है। ज्यों ज्यों उस वस्तु में मनुष्य का मन रमने लगता है, त्यों त्यों उसे शान्ति प्राप्त होती है। परन्तु वह नूतन वस्तु, प्रेम के उस पुरातन पात्र की सुखद स्मृतियों पर आवरण डालने में असमर्थ रहती है—उन्हें नित्य जागृत करने में ही सहायक होती है। परिणाम यह होता है, कि मनुष्य हृदय में पैठी हुई प्रिय वस्तु को ज्यों ज्यों भूलने की चिन्ता करता है; त्यों त्यों वह वस्तु उसे अधिकाधिक याद आती है। और इस याद में उसकी विरह वेदना उसी प्रकार छिपी रहती है, जिस प्रकार कि दियासलाई में अग्नि, जो एक रगड़ लगते ही प्रज्वलित हो उठती है। यही दशा नन्हूँ की थी। वह अपने अनार में भूला रहता था; आज इतनी बात चली, तो सुखिया की स्नेहमयी स्मृतियों से उसका हृदय उमड़ उठा। बेचारे के नेत्रों से टप टप आँसू गिरने लगे।

सुखिया की माँ की आँखों से भी आँसुओं की धारा बह रही थी। तो भी वह जी कड़ा कर बोली—" भई, जिसके यहाँ फल-फूल होते हैं, उसके

द्वार पर लोग-बाग सहज ही आकर खड़े हो जाते हैं। यदि दस-पाँच फल टूट जायँगे, तो हानि ही क्या होगी ?"

नन्हूँ ने रुँधे हुए गले से उत्तर दिया-"आह सुखिया की माँ, तुम नहीं समझ सकतीं। नहीं समझ सकतीं। यह तो मैं भी जानता हूँ, कि दस पाँच फल तोड़ने से कोई हानि नहीं हो सकती। मैंने इरादा भी किया। तो सुखिया की माँ, ऐसा जान पड़ता है, कि एक एक शाख से; एक एक पत्ती से और एक एक फल से हमारी सुखिया करुणा भरी आँखों से ताक रही हो। बस, उठे हुए हाथ आप से आप नीचे गिर जाते हैं। विश्वास न हो, तो एक बार तुम भी फल तोड़ने के इरादे से जाकर देखा लो।

सुखिया की माँ ने एक बार चारों ओर नजर दौड़ाई, और तब नन्हूँ का हाथ पकड़ कर कहा-"इतने दुखी होने से क्या लाभ ? भीतर चलो। हाथ-मुँह धोकर कुछ खा-पी लो। दिन-भर के हारे-थके हो। दुनियां में ये झगड़े तो लगे ही रहते हैं। भाग्य में जो बदा होगा, होता रहेगा।"

सुखिया की भोली भाली माँ नन्हूँ के हृदय से अपरिचित नहीं थी, उसके हृदय को अपने हृदय में अनुभव करती थी। फिर भी पल्टू के कोप से वह सहम गई थी, और इच्छा न होने पर भी उसने चाहा था, कि मामला आगे न बढ़ने पावे। परन्तु नन्हूँ के हृदय की कोमलता ने वह बात न होने दी। और यद्यापि इससे सुखिया की माँ को सन्तोष ही हुआ, परंतु पल्टू की ओर से उसके हृदय में आशंका की लहरें उठ रही थीं। वह सोचती थी, कि पल्टू न जाने किस दिन, हम ग़रीबों का क्या अनर्थ कर बैठे। परन्तु सुखिया की माँ जो सोचती थी, वह कुछ न हुआ। हुई एक नई ही बात।

दूसरे दिन नन्हूँ दो घड़ी दिन रहे खेत से लौटा। द्वार पर पहुँचने पर उसने जो कुछ देखा, उससे उसके हृदय पर एक गहरी चोट लगी। उसने देखा, कि उसका प्यारा अनार मानो किसी पैशाचिक अत्याचार की आग से

झुलस गया है। पक्के, अधपके और कच्चे फल अनाथ बालकों की नाईं धूल में पड़े बिलख रहे हैं, कितनी ही कोमल शाखाएँ धरती पर पड़ी हुई उस अत्याचार की कहानी कह रही हैं, और हजारों हरी हरी पत्तियाँ मारे वेदना के तड़प रही हैं। "हाय! मेरे प्यारे बिरवे को किसने उजाड़ डाला!" कहकर नन्हूँ ने अपनी छाती पकड़ ली। पाँच मिनट तक वह सूनी नजरों से बिरवे की ओर ताकता रहा। फिर "पल्टू दादा, क्या तुम्हारा कोप इसी मूक बिरवे पर उतरना था! मुझ चलते-फिरते और बोलते हुए जीव पर अत्याचार करने में कौन तुम्हारा हाथ पकड़ता था। हाय! तुम बुंदेला हो!" कहता हुआ घर में चला गया।

सुखिया की माँ एक ओर उदास बैठी थी। उसकी आँखें लाल हो रही थीं, जान पड़ता था, जैसे थोड़ी देर पहले वह रोती रही है, और रोते रोते उसने आँखें मीड़ डाली हैं। "सुखिया की माँ, मेरे बिरवे को किसने उजाड़ डाला!" भर्राए हुए गले से नन्हूँ ने पूछा।

"मेरे सिवा और कौन उजाड़ता? हमारा यह सुख लोगों की आँखों में खटकता है। मैंने सोचा, वह सुख ही क्या, जो लोगों की आँखों में खटके। बस मैंने सब फल तोड़कर फेंक दिए।" सुखिया की माँ की आँखें भर आईं, फिर भी उसने रुँधे हुए गले से उत्तर दिया।

"तुमने? नहीं, तुमने नहीं। सुखिया की माँ, तुम दुखिया नन्हूँ की दुखिया पत्नी हो। भला, तुमसे यह कठोर काम कैसे हो सकता है? मैं पल्टू दादा से लड़ने नहीं जाऊँगा-तुम छिपाओ मत। हृदय को भीतर ही भीतर जलाते रहना, और आँखों से आँसू बहाना ही हमारा लड़ना है।" नन्हूँ की तेजहीन आँखों से, थोड़े से मोती निकलकर उसके सूखे और पिचके गालों पर लुढ़क पड़े।

सुखिया की माँ के बड़े-बड़े नेत्रों से भी आँसू बहने लगे।

"सुखिया की माँ, रोओ मत। रोते-रोते हमारी ज़िन्दगी बीत गई है।

इस रोने से तो अब जी पक गया है। अब तो भीतर ही भीतर जी जलाने का काम है। तुम भी जलाओ, मैं भी जलाऊँ। नन्हूँ ने अपने मोटे अँगोछे के एक कोने से सुखिया की माँ के आसू पोंछ दिए। पर, वह थमे नहीं, धार बांध कर बहते रहे। सुखिया की माँ बड़ी देर तक सिसकती रही। वह उसी हालत में बोली—"एक बात कहूँ, मानोगे? बिरवा तो उजड़ ही गया है। अब कुछ फल पल्टू दादा को दे आओ।"

"सुखिया की माँ, होश की बातें करो!"—नन्हूँ ने ताज्जुब से पत्नी का ओर देखते हुए कहा—"उसने मेरे हरे-भरे बिरवे पर बिजली गिरा दी, और मैं उसके पास फल लेकर जाऊँ!"

"हाँ! मेरी बात मान लो!" सुखिया की माँ कुछ दृढ़ता-पूर्वक बोली।

"आखिर क्यों!"

"तुम तो बस, बहस करते हो, बात नहीं मानते। पल्टू दादा भी आदमी हैं। उन्हें फल देना और उनके सामने अपने हृदय को भी रखना। वह स्वयं अपनी करतूत पर पछताएँगे, और बिगाड़ की आग बुझ जायगी।"

नन्हूँ क्षण भर कुछ सोचता रहा। फिर टोकरी उठाकर चुपचाप बाहर चला गया। उसने कुछ पके-पके फल चुने, और उन्हें टोकरी में सजाकर पल्टू के घर की राह ली। जिस समय नन्हूँ पल्टू के घर पहुँचा, उस समय सन्ध्या हो चुकी थी। पल्टू दादा बाहर चबूतरे पर बैठे हुए थे, दो-चार ग्रामीण उनके सामने नीचे धरती पर बैठे, उनकी ओर ताक रहे थे। घुल-घुल कर बातें हो रही थीं। नन्हूँ टोकरी सिर पर रक्खे हुए, पल्टू दादा के सामने पहुँचकर खड़ा हो गया। पल्टू दादा ने उस पर एक तीखी नज़र डाली, और तब बिगड़कर कहा—"उलहना देने आया है? मैं तरह दे रहा हूँ, और तेरी शामत तुझे लिए फिरती है। तू जानता नहीं, मैं बुँदेला हूँ। बेटा, मुझ से उलझोगे, तो अपने किए पर पहुँचोगे।"

"पेड़ का पेड़ उजाड़ डाला और ऊपर से ये बातें!"—नन्हूँ गम

के आँसू पीकर बोला।

"हाँ, हाँ! उजाड़ तो डाला, अब? जो मरज़ी हो, कर लेना! यहाँ से जाते हो कि नहीं?" पल्टू दादा ने और भी तीखे पड़कर कहा।

"कैसा गँवार है!" एक ग्रामीण ने नन्हूँ की ओर देखकर कहा!

"वह तो कहो, दादा दयावान् प्राणी हैं, और कोई होता, तो बच्चू को मज़ा मिल जाता। न कुछ दो-चार फलों के लिये नाहीं कर दी।" दूसरे ग्रामीण ने दादाजी की ओर देखकर कहा।

नन्हूँ उल्टे पैरों लौट आया, और चुपचाप एक ओर बैठ रहा। सुखिया की माँ ने पूछा—"क्यों, कैसे लौटे आए? क्या पल्टू दादा ने फल नहीं लिए? आख़िर इतने उदास क्यों हो?" नन्हूँ ने उत्तर दिया—"सुखिया की माँ, तुम दुनियाँ का हाल नहीं जानतीं। यहाँ कोई किसी का दुःख-दर्द नहीं समझता। पल्टू आदमी नहीं है, आदमी की काया में छिपा हुआ जानवर है।"

उस दिन से नन्हूँ की तबीयत में एक गहरी उदासी रहने लगी। वह घर के काम-काज देखता था, खेत को जाता था, खाता-पीता भी था, पर बेमन से। जैसे उसका सूखा हुआ उत्साह एक बारगी जलकर खाक हो गया था। नन्हूँ अपने अनार को अब भी सँभालता था, उसे खाद देता था, पानी पिलाता था, पर मरे से हाथों। वह दालान में बैठ कर अब भी नित्य अनार की ओर देखा करता था। पर आँखों में वह चमक न दिखाई देती थी, चेहरे पर वह आत्म सुख नहीं झलकता था। अनार को देखते देखते उसके हृदय में एक हूक उठती थी और वह एक बारगी कह उठता था-"सुखिया की माँ, हमने कितने यत्न से-कितनी लालसा से इस बिरवे को पाला था! पर, पल्टू से हमारा वह सुख न देखा गया-उसने क्षणभर में ही बेचारे को मसल डाला। इस कोमल बिरवे पर हाथ उठाते उसे तनिक भी संकोच न हुआ। हमारे हृदय पर क्या बीतेगी-यह उसने एक

बार भी न सोचा। उफ़ !"

सुखिया की माँ जवाब देती—"किसी के हृदय पर क्या बीतेगी, संसार यही सोचता, तो......" इतके आगे वह कुछ न कह सकती। बेचारी का गला भर आता, आँखों से टप-टप आँसू बरसने लगते।

धीरे-धीरे नन्हूँ ने अनुभव किया, कि इस घटना की चर्चा करने से सुखिया की माँ को मुझ से भी अधिक कष्ट होता है। जैसे उसके हृदय का ज्वाला मुखी शान्त हो गया। अब उसने इस घटना की चर्चा बिलकुल बन्द कर दी। और पहले के समान ही काम काज की ओर मन लगाना शुरू किया। पर, बेचारे को शान्ति नहीं मिली। एक दिन सोया हुआ ज्वालामुखी सहसा पहले की अपेक्षा भी ज़ोरों से भड़क उठा।

नन्हूँ ने पत्नी से कहा—"सुखिया की माँ, तुमने मुझ से कपट किया है। पहले तो तुम ऐसा नहीं करती थीं—इसी बार क्यों ऐसा किया ? मुझे जगत् पाँड़े से सब हाल मालूम हो गया है। पल्टू ने मेरे बिरवे को ही नहीं मसला, मेरी अबरू पर भी हमला किया है। जब वह दुष्ट बिरवे को मसलने आया था, तब तुमने उसे रोका था, कहा था—'तुम्हारे हा-हा खाती हूँ, इस बिरवे पर दया करो।' पर, दया के बदले उसने तुम्हें गालियाँ दी थीं। क्यों सच है न ?"

सुखिया की माँ ने उत्तर दिया—"सुखिया के दादा सब सच है। पर, ग़रीबों के तो आबरू होती नहीं; तुम से कहती ही क्या ?"

"सच है सुखिया की माँ !" नन्हूँ दुखित स्वर में बोला—"और शायद गरीबों के हृदय भी नहीं होता; यदि होता, तो उन्हें इतने अपमान-इतने कष्ट क्यों सहने पड़ते ! संसार में ग़रीब होकर जन्म लेना एक बड़ा पाप है—और एक बड़ा अपराध भी। मेरा निरपराध बिरवा फूला-फला भी न रह सके और पल्टू के बच्चे किलकारियाँ मारते फिरें ! पल्टू की स्त्री गाँव की ग़रीब स्त्रियों पर रोब गाँठे और मेरी स्त्री अपमान की ज्वाला में अपने

हृदय को—रक्त-मांस को, तिल तिल करके जलाया करे; और ऊपर से पल्टू मूछों पर ताव देता हुआ, हमारी गरीबी को पैरों से ठुकरावे ! आह ! सुखिया की माँ, अब तो यह दुःख नहीं सहा जाता। जी में आता है, कि अपनी और पल्टू की जान एक कर दूँ। ”

नन्हूँ, एक गहरे सोच में डूब गया। उसके चेहरे पर कभी चिन्ता की रेखाएँ दिखाई देती थीं, कभी माथे पर बल पड़ते थे और कभी आँखों की सुर्खी हृदय में उबलते हुए क्षोभ को प्रकट करती थी।

सुखिया की माँ बोली—“ क्या सोच रहे हो ? ”

नन्हूँ ने उत्तर दिया—“ सोच रहा हूँ, कि मेरा जीवन केवल मेरे लिये ही नहीं है। उस पर तुम्हारा और इस अनार का भी अधिकार है। नहीं तो....... । परंतु मैं उससे यह जरुर पूछूँगा, कि तूने मेरी पत्नी को गालियाँ क्यों दीं ? ”

सुखिया की माँ ने कहा—“ रहने दो। रार बढ़ाने से क्या लाभ ? गरीबों की कोई नहीं सुनता। ”

नन्हूँ जब ब्यालू करने के बाद खेत पर जाने लगा, तो सुखिया की माँ के नेत्र भर आए। वह करुण-स्वर में बोली—“ तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ, पल्टू से कुछ न कहना। वह समर्थ आदमी है। मारे डर के मेरा हृदय काँपता है। ”

सुखिया की माँ, पागल तो नहीं हो ? मैं भला पल्टू से लड़ूँगा ! यदि यही बात होती, तो....... !” कहता हुआ नन्हूँ चला गया।

दूसरे दिन सवेरे नन्हूँ सदा की नाईं जल्दी नहीं लौटा। सुखिया की माँ चिन्तित हुई। धीरे—धीरे पहर दिन चढ़ आया। सुखिया की माँ का जी लौट—पौट होने लगा। घर के काम-धन्धे उसे विष से जान पड़ने लगे। वह क्षण में भीतर जाती, फिर बाहर निकल आती और जहाँ तक नजर दौड़ती, अपनी सुखिया के दादा को ताकती। कुछ देर बाद नन्हूँ आता

दिखाई दिया। सुखिया की माँ के जी में जी आया। आज नन्हूँ की चाल में उत्साह था, और चेहरे पर जैसे खुशी बरस रही थी। सुखिया की माँ पुलक उठी। घर में पहुँचने पर उसने पूछा—" अभी तक कहाँ रहे ? "

" बड़ी अच्छी—बड़ी खुशी की खबर है सुखिया की माँ ! " नन्हूँ ने विक्षिप्त की नाईं आन्द प्रकट करते हुए कहा।

सुखिया की माँ ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि से नन्हूँ की ओर देखा।

" रात को ऐसी दमार लगी, कि पल्टू दादा के सब खेत स्वहा हो गए ! "

" ऐं ! तो इसमें खुशी की कौन-सी बात हुई ? "

" क्यों नहीं ! पल्टू दादा के दसों खेत स्वाहा हो गए। सवेरे वह सिर धुनते थे, उनकी स्त्री अलग छाती पीटती थी। क्या यह खुशी की बात नहीं है ? "

" उन्हीं के खेतों से तो अपना खेत भी लगा हुआ है ! "

" उसी से तो यह आग लगी थी, जो पल्टू दादा के खेतों को ले डूबी !"

" तो अपना भी सर्वनाश हो चुका है ? "

" सब तो नहीं, पर बहुत कुछ ! "

" आखिर आग लगी कैसे ? "

" क्या बतलाऊँ सुखिया की माँ; जब आदमी पर शैतान सवार होता है, तो उसके हिये की फूट जाती हैं। मैंने रात को पल्टू से पूछा—'आखिर दादा, सुखिया की माँ ने तुम्हारा क्या बिगड़ा था, जो तुमने उसे गालियाँ दीं !' इस पर वह इतना बिगड़ा कि आपे से बाहर हो गया। बोला—' मुझ से रार करते हो, नहीं जानते, कि मैं बुँदेला हूँ। ' मैंने बहुत कहा—' दादा, तुम एक बार नहीं, हजार बार बुँदेला हो, मेरी इतनी सामर्थ्य कहाँ, जो तुम से रार करूँ। ' परन्तु वह एक ही ज़िद्दी है। मैं ज्यों ज्यों उसे समझाता था, वह त्यों त्यों बिगड़ता था। अन्त में मुझे भी क्रोध आगया। मैंने कहा—' बुँदेला हो, तो बने रहो, जो दिखे, वही करो। तभी मैं समझूँगा कि तुम बुँदेला हो। '

इस के बाद मैं जाकर मड़ैया पर लेट रहा। परन्तु मारे खटके के मुझे नींद नहीं आई। पल्टू बड़ी देर तक बड़बड़ाता रहा। आधी रात के बाद क्या देखता हूँ, कि वह चुपचाप उठा और उसने हमारे खेत में आग लगा दी। परन्तु ईश्वर की माया—उसी समय ज़ोर से पुरवाई बहने लगी, और आग पल्टू के खेतों की ओर बढ़ चली। देखते ही देखते उसके सब खेत भस्म हो गए!"

"हे भगवान्! अब उसके बाल-बच्चों का क्या होगा! जब तुम जा रहे थ, तो मैंने क्या कहा था? तुमने अपना नाश किया, और उसे भी धूल में मिलाया। फिर भी कहते हो, कि खुशी की खबर है!" सुखिया की माँ की आँखें डबडबा आईं।

"खुशी की ही बात है सुखिया की माँ! आज पल्टू को मालूम तो हो गया, कि आँसू कितने महँगे होते हैं!" नन्हुँ की आँखें भी भर आईं।

"यदि तुम इस बात से सुखी हो, तो मैं भी सुखी हूँ।" सुखिया की माँ ने रुँधे हुए गले से उत्तर दिया।

उफ़! उन ग़रीबों का वह सुख कितना वेदना पूर्ण था, इसे कौन कह सकता है।

वंशीवाला

रात के लगभग आठ बज चुके थे। सखियाँ सुमन को घेरे हुए बैठी थीं। हास-परिहास की धारा एक–एक के हृदय में मधुर उल्लास उत्पन्न कर रही थी। तरला कल्लोल करते हुए सरोवर की ओर देखती–देखती बोली '‌ जल-विहार का कैसा सुंदर अवसर है! छप–छप करती हुई नौका प हास-परिहास की सरसता कितनी मोहक–कितनी सुखद हो जाती है!'

विमला ने कहा–' ठीक तो है! चलो न सुमन, नाव नवरिया खेलें। कितने दिन हो गए, हमने नौकारोहण नहीं किया। यह हँसती हुई चाँदनी रात–जल–विहार का आनन्द हमारे अन्तस्तल हरे कर देगा। बोलो, क्या कहती हो?'

सखियों की यह इच्छा देख सुमन बोली–' देखती हूँ, तुम लोग सरसता के लिये दिनों दिन पागल हुई जा रही हो। अच्छी बात है, चलो जल-विहार द्वारा अपने मुरझाए हुए हृदय हरे-भरे करो।' सुमन मुसकिराकर

खड़ी हो गई ! उसके पीछे–पीछे सब सखियाँ चल पड़ीं।

परियों का वह चंचल देश छत से उतरकर घाट पर पहुँचा और देखते-ही–देखते एक छोटी–सी मोरपङ्खी पर सवार हो गया। रूप और यौवन के उस कोमल भार को लेकर मोरपङ्खी धीरे धीरे जल-तरङ्गों पर थिरकने लगी।

सुनील आकाश में पूर्णिमा का चाँद अपनी सोलहों कला से चमक रहा था। चटकीली चाँदनी सरोवर के स्वच्छ–स्निग्ध हृदय पर धीरे–धीरे नाच रही थी। वासन्ती पवन चुपचाप धीरे-धीरे चारों ओर सुरभि बिखेर रहा था। कान्ता बोली–'अहा ! यह वसन्त भी कितना रसिक है ! वृक्षों और लताओं के साथ विहार करता है। सरोवर की तरङ्ग-मालाओं के साथ आँख–मिचौनी खेलता है, एक-एक पुष्प को चूमता है, फिर भी इसकी तृष्णा नहीं बुझती। अब निर्दयी हमारी सुमन पर धावा बोल रहा है।'

निर्मल ने मुसकिरा कर कहा–'धावा क्या बोल रहा है, वह देखो, वह सुमन के अधर-पल्वों का रस-पान कर रहा है।'

श्यामा नें हँसकर कहा–'यदि सौरभ भी आज इनकी बगल में होते तो इनके लिये वसन्त की यह मदमाती रात कितनी रस–भरी हो जाती !'

सुमन रिसियाकर बोली–'तुम लोग बिलकुल असभ्य हो ! भला सौरभ मेरे कौन होते हैं ?'

तरला खिलखिला कर बोल उठी–'अहा ! हमारी सखी बड़ी भोली है ! बेचारी सुमन और सौरभ का नाता भी नहीं जानती। पगली, सुन ! मैं सुमन और सौरभ का नाता बतलाऊँ। सौरभ सुमन की शोभा है, सौरभ सुमन का वैभव है और सौरभ सुमन का जीवन है। अब भी समझी या नहीं ?'

सहसा एक मधुर ध्वनि से वायु–मण्डल गूंज उठा। सरोवर के उस पार अमराई के बीच में कोई छिपे–छिपे वंशी बजाने लगा और उसकी मोहिनी

जल-राशि की एक-एक तरङ्ग पर तैरती हुई आ-आकर रूप के उस छोटे-से देश से टकराने लगी।

सुमन बोली–' उफ़! कितना आकर्षण है! ज़रा मोरपङ्खी रोक लो थोड़ी देर शान्ति–पूर्वक यह वंशी–ध्वनि सुनूँ।'

कृष्णा ने कुछ विरस होकर कहा–' वाह! हम यहाँ वंशी–ध्वनि सुनने आई हैं, या जल–विहार करने?'

सुमन ने उत्तर दिया–' तुम तो बिलकुल कृष्णा हो! भगवान् ने तुम्हें हृदय ही कहाँ दिया है! वसन्त की रस–भरी रात में हम जल–विहार कर रही हों और दूर पर हृदय को आलोड़ित करने वाली वंशी कूक रही हो– इससे अधिक आनन्द और क्या हो सकता है? सुनती नहीं हो, यह वंशी-ध्वनि है, या मन–प्राणों को पागल बना देने वाली मादकता कूक रही है?'

फिर किसी ने सुमन के आग्रह का प्रतिवाद नहीं किया। मोरपंखी स्थिर हो गई और सुमन वंशी सुनने लगी। उसकी एक–एक तान मीठी–मीठी थपकियाँ देकर सुमन के अन्तरंग–को सुलाने लगी। वंशी–ध्वनि सुनते–सुनते सुमन तन्मय हो गई और उसके हाथ से पतवार छूट गई।

एकाएक गूँजता हुआ वायु-मण्डल नीरव हो गया। परन्तु सुमन फिर भी अचल रही, जैसे वंशी का वह मोहक स्वर अब भी उसके कानों में गूँज रहा था। निर्मला ने सुमन को गुदगुदाया और कहा–' अब कब–तक स्वप्न–लोक में भटकती रहोगी? वंशी–ध्वनि तो कभी की मौन हो चुकी है।'

सुमन ने अनमने भाव से कहा–' हूँ! बहुत विलम्ब हो गया। अब लौट चलो; नहीं तो अम्मा नाराज़ होंगी।'

× × ×

उस दिन जल–विहार के बाद सुमन जो कुछ लाई थी, उसे त्यागने या भुला देने की बहुत चेष्टा करती थी। परन्तु परिणाम उल्टा ही होता था।

वह वस्तु दूर होने की अपेक्षा दिनों दिन सुमन के निकट होती जाती थी और सुमन पर उसका रंग चढ़ता जाता था। बीच–बीच में वंशी की वह ध्वनि अलग ही सुमन को आत्म–विभोर कर डालती थी। एक दिन की बात है, सहसा सुमन की आँख खुल गई। वह चौंक उठी और उठकर बिछोने पर बैठ गई।

विस्तृत गगन में असंख्य तारों के बीच चन्द्रदेव मन्द–मन्द मुसकिरा रहे थे। उनके अङ्क से सुधा–धारा झर रही थी। दिन-भर की झुलसी हुई प्रकृति चाँदी की शीतल चादर ओढ़े हुए चुपचाप–बड़ी शान्ति से विश्राम कर रही थी। रात आधी से अधिक बीत चुकी थी, और उस गम्भीर सन्नाटे में दूर–दूर तक वंशी की वही ध्वनि गूँज रही थी। जान पड़ता था, जैसे बजाने वाला तल्लीन होकर अपनी सारी सुध–बुध खोकर उसे बजा रहा है। उसकी वह कोमल ध्वनि–रस की वह अमृत–धारा दूरी के व्यवधान से छन–छन कर सुमन के निकट आ रही थी। धीरे–धीरे सुमन अतृप्त भाव से उसका पान करने लगी, और पान करती–करती अपने आप को भूल गई।

वंशी न जाने कब तक अविराम गति से बजती रही और सुमन कब तक मुग्ध हृदय से उसे सुनती रही। धीरे–धीरे हृदय–तल को स्पर्श करनेवाली वह ध्वनि मन्द होने लगी, मानों बजाने वाला चुपके–चुपके दूर, बहुत दूर चला जा रहा था। क्रमशः ंशी का वह स्वर प्रकृति के उस विशाल अन्तराल में विलीन हो गया।

जादू के प्रभाव से सोई हुई सुमन जैसे जाग उठी और सूनी आँखों से अपने चारों ओर ताकने लगी; मानों उस वंशी–ध्वनि के लिये उसके प्राण छटपटाने लगे और व्याकुल नेत्र वंशीवाले को ढूँढ़ने लगे। परन्तु वंशीवाला वहाँ कहाँ था! वह तो जैसे सुमन के कोमल हृदय पर वशीकरण मन्त्र फूँक कर अपनी वंशी समेत, न जानें कहाँ जा छिपा था।

परन्तु मन्त्र के उस प्रभाव से सुमन अधीर हुई जा रही थी। ध्वनि का वह दाहक विरह उसके मुमन–हृदय को झुलसाए डाल रहा था। सुमन वेदना की उस ज्वाला से तिलमिला उठी। शैया छोड़कर खड़ी हो गई और मन्थर गति से, छत के इस छोर से उस छोर तक टहलने लगी। फिर क्षितिज की ओर देखकर, अधजले हृदय से एक तप्त उच्छ्वास छोड़ती हुई बोली 'वंशीवाले, तुम कौन हो? तुम्हारी वंशी में किसने इतना जादू भर दिया है, जो सीधे अन्तस्तल पर चोट करता और मन–प्राणों को हर लेता है। तुम्हारी वंशी में कितनी मिठास है! सुनती सुनती थक जाती हूँ।! फिर भी सुनने की साध नहीं मिटती। तुम्हारी वंशी में कितना रस है! पीती–पीती थक जाती हूँ, फिर भी प्यास नहीं बुझती। तुम्हारी वंशी की एक–एक तान पर–एक-एक लय पर, आत्म विस्मृत हो जाती हूँ फिर भी हृदय में छिपी हुई उदाम आकुलता हाहाकार करती रहती है।'

फिर थोड़ा ठहरकर कहने लगी–'आह! वंशीवाले, तुम किस देश के वासी हो! कहाँ छिपे-छिपे अपनी वंशी बजाते हो? तुम मुझे अन्तर्द्वन्द्व की इस भूमि में क्यों घसीट लाए, जहाँ मैं लड़ती–लड़ती बिलकुल परास्त हो गई हूँ, और मेरा रोम-रोम पस्त हो गया है? फिर भी तुम मुझसे आँख–मिचौनी का खेल खेल रहे हो। हाय छलिया! तुम चुपके–चुपके मेरे भीतर आ बैठे और अब नित्य मेरे रस में विष घोल रहे हो! फिर भी दिखाई नहीं देते। यदि एक बार भी तुम्हें देख पाती तो......'

सुमन की आँखों से दो गरम–गरम आँसू धरती पर गिर पड़े। वह थक कर बिछौने पर जा बैठी और बैठते ही लेट गई। तीन प्रहर रात्रि व्यतीत हो चुकी थी। निद्रा को सुमन पर दया आई। उसने हलकी–हलकी थपकियाँ देकर उसे सुला दिया।

प्राची दिशा में उषा सोनहले वस्त्र धारण कर रही थी। एकाएक सुमन चीख उठी–'वंशीवाले–वंशीवाले! तुम इस बीहड़ सुनसान वन में मुझे

अकेली कहाँ छोड़े जाते हो!' वह उठकर बैठ गई और हक्की-बक्की सी चारों ओर देखने लगी।

मां ने प्यार से उसके सर पर हाथ फेरते हुए पूंछा-'क्या है बेटी?'

'कुछ नहीं अम्मा! मैं एक मनोहर स्वप्न देख रही थी।' कह कर सुमन फिर लेट रही।

× × ×

सुमन के विवाह की तैयारियाँ होने लगी।

सुमन बेचैन हो उठी। उसके नेत्रों में सौरभ का स्वरूप नाचने लगा और कानों में वंशीवाले की वही आकर्षक ध्वनि गूँजने लगी। उसने देखा-हृदय पर वंशीवाला अधिकार किए बैठा है, और वहाँ सौरभ के लिये कण-भर भी स्थान नहीं रह गया है। तब सौरभ के साथ कैसे विवाह हो सकता है? जो प्राण वंशीवाले का है, उसका आवरण सौरभ को कैसे दिया जा सकता है? हृदय में एक दारुण वेदना हाहाकार कर उठी और उमड़-उमड़कर कण्ठ की ओर बढ़ने लगी।

सुमन मां के पास पहुँची। उसके नेत्र डबडबा रहे थे। गला रुँध रहा था। क्षण-भर बाद उसने काँपती हुई ध्वति में पुकारा-'अम्मा!'

मां ने स्नेह-भरी वाणी में कहा-'क्या है बेटी?'

सुमन सिसक-सिसक कर रोने लगी।

मां ने उसके सर पर हाथ फेरते हुए पूंछा-'क्यों रोती है बेटी? कौन-सी कठोर वेदना तेरे हृदय को मसल रही है?'

सुमन ने रोते-रोते उत्तर दिया-'अम्मा, तुम मेरा विवाह क्यों कर रही हो? मुझे घर से बाहर क्यों निकाल रही हो?'

मां की आँखें भर आईं। उसने धरती पर दो आँसू टपकाते हुए कहा-'बेटी, माँ कब चाहती है कि उससे उसकी लाड़ली बेटी छीन ली जावे? पर, बेटी का विवाह किए बिना भी तो नहीं चलता। सदा से यही होता

आ रहा है। इसीलिये मैं भी छाती पर पत्थर रख कर तेरा विवाह कर रही हूँ।'

सुमन अपने कपोलों को तर करती हुई बोली–' पर अम्मा, तुम मेरा विवाह मत करो।'

माँ ने अश्चर्य–चकित होकर पूछा–' क्यों, क्या तुझे सौरभ पसन्द नहीं है?'

सुमन ने अंचल से नेत्रों की कोरें पोंछते–पोंछते उत्तर दिया–' अम्मा, इस विवाह से मैं सुखी न हो सकूँगी।'

मां को और भी आश्चर्य हुआ। उसने आग्रह–पूर्वक पूंछा–' अन्ततः तू ऐसी अशुभ कल्पना क्यों कर रही है? सौरभ जैसा वर तो मैंने आज तक नहीं देखा। कहीं मिलने की सम्भावना भी नहीं है।'

सुमन फिर बिलखने लगी। माँ के चरण पकड़कर बोली–' जो कुछ हो अम्मा, पर मेरा मन कहता है; मुझे इस विवाह से सुख न मिलेगा। यदि तुम मुझे कुमारी ही रहने दोगी, तो मैं उसी को अपने जीवन का सब से बड़ा सुख समझूँगी।'

मा ने सुमन को अपने अङ्क में भरकर कहा–' मेरी अच्छी बेटी, इतनी कातर मत हो। सौरभ सर्व–गुण–सम्पन्न वर है। मेरी आत्मा कहती है, उससे तुझे सब तरह का सुख मिलेगा। उसकी छाया में तेरा पूर्ण विकास होगा। फिर सौरभ कहीं दूर भी तो नहीं रहता। सरोवर के उस पार, अमराई के निकट ही तो एक सुंदर उद्यान में उसका भवन है। फिर एक बार अपने कुल–शील पर भी विचार कर, और यह सोच कि तू किसकी बेटी है। खबरदार, अब कभी ऐसी बातें मत करना। किसी अज्ञात कुल–शील और अपरिचित व्यक्ति के विषय में सोच–विचार करना–यह तो एक कुल–बाला की मर्यादा के विरुद्ध है बेटी! यदि तुम्हारे पिता ये बातें सुनेंगे, तो उनको कैसी मनोव्यथा होगी!'

माँ इसके बाद ही किसी काम से बाहर चली गई।

अकेले में सुमन के हृदय का आवेग और भी ज़ोरों से उमड़ उठा। वह अपने आप कहने लगी–'अम्मा, तुम भी मेरा दर्द न समझ सकीं। तुमने एक ही आघात में मेरी भावना को कुल–मर्यादा की वेदी में झोंक दिया। अब मैं संसार में किसे अपनी वेदना की करुण कहानी सुनाऊँ? हाय वंशीवाले, तुमने मेरे हृदय में जो आग जला दी है, वह कैसे बुझेगी? उसे बुझाने के लिये मैं शीतल जल के दो छींटे कहाँ पाऊँगी?'

सुमन को वह पीड़ा असह्य हो उठी। बेचारी फफक–फफक कर रोने लगी!

× × ×

आज सुमन की सुहाग–रात थी।

आकाश में घटाएँ घिरी हुई थीं। बादल धुएँ के समान उत्तर की ओर उड़े जा रहे थे। धरती पर रिमझिम–रिमझिम मेह बरस रहा था। मलयानिल सुरभी बटोर–बटोर कर लाता और चुपके–चुपके सुमन के गुलाबी कपोल चूमकर चला जाता था।

परन्तु सुमन के संसार में थोड़ा भी आकर्षण नहीं रह गया था। वह बिलकुल उदास–बिलकुल शून्यमना हो रही थी, जैसे उसका सर्वस्व लुट गया था, और वह उस विशाल कक्षा में बैठी–बैठी मन-ही-मन हाहाकार कर रही थी। मुखड़े पर न वह दीप्ति थी, न नेत्रों में वह चञ्चलता; जैसे दैव के दारुण दुर्विधान ने एक बार ही उसके समस्त जीवन–रस का शोषण कर लिया था और वह मूर्ति के समान अचल बैठी हुई थी। कुछ देर बाद उसने एक ठण्ढी साँस खींचकर कहा–'ओफ़!'

सहसा प्रातःकालीन पुष्प की नाईं मुसकिराते हुए सौरभ ने उस कमरे में प्रवेश किया। सुमन सिमटी हुई फ़र्श पर बैठी थी। सौरभ आकर उसके सामने खड़ा हो गया। पाँच मिनट तक वह प्यासी आँखों से अपनी प्रेम प्रतिमा को देखता रहा। फिर उसने धीरे–धीरे पुकारा–'सुमन! मेरी रानी!'

और यह कहते–कहते मानो अपने हृदय का समस्त स्नेह सुमन पर निछावर कर दिया।

परन्तु सुमन चुप थी। शायद वह वंशीवाले की चिन्ता कर रही थी।

'सुमन–मेरी प्यारी सुमन!' कहते हुए सौरभ सुमन के पार्श्व में बैठ गया। उसने सुमन की पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा–'प्रिये, तुम तो बिलकुल ही चुप हो! एक बार अपने मधुर कण्ठ से बोलो तो सही। तुम्हारी मीठी बोली सुनने के लिये कब से व्याकुल हो रहा हूँ।'

परन्तु सुमन दो हाथ दूर खिसक गई। शायद वह सोच रही थी–'कैसे दलदल में आ फँसी हूँ। अब वंशीवाले को कहाँ पाऊँगी!'

सौरभ भी सुमन के निकट खिसक गया। 'मेरी देवी! तुम्हारी रूप–माधुरी का पान करने के लिये ये आँखें कब से तरस रही हैं! क्या एक बार भी दर्शन देने की कृपा न करोगी?' कहते हुए सौरभ ने सुमन का हाथ पकड़ लिया और वह उसके मुखड़े पर पड़े हुए पर्दे को हटाने की कोशिश करने लगा।

परन्तु जैसे सुमन के रक्त में बिजली प्रवाहित नहीं हुई, शरीर में कम्पन नहीं हुआ। उसने झुंझलाकर हाथ खींच लिया, इसके साथ ही वह दो हाथ और दूर खिसक गई। शायद मन-ही-मन कह रही थी–'वंशीवाले, तुम किस पर्दे में छिपे हुए हो!'

सौरभ का मोह बढ़ता जा रहा था। सुमन की ये भाव-भंगिमाएँ उसके आकुल हृदय को घायल कर रही थीं। 'सुमन! मेरी प्यारी! तुम्हारे लिये कितने दिनों से उद्विग्न हो रहा था! कितनी प्रतीक्षा–कितनी आतुरता के पश्चात् यह सुन्दर बेला आई है, और तुम बोलती भी नहीं!' कहकर सौरभ ने सुमन को अंक में भरने की चेष्टा की।

परन्तु सुमन उछल कर दूर जा खड़ी हुई, मानों उसके पैर धधकती हुई आग पर पड़ गए हों। इस बार उसने सौरभ से कहा–'तुम्हारे पैर

पड़ती हूँ। मुझे न छेड़ो। इस समय मेरा चित्त ठिकाने नहीं है।' सुमन का कण्ठ रुँध रहा था, वाणी काँप रही थी और शायद वह भीतर-ही-भीतर पुकार रही थी–' वंशीवाले ! ओ वंशीवाले !!'

भावुक सौरभ अवाक् रह गया।

उसने सुमन को रिझाने की बहुत चेष्टा की, वशीकरण की मोहिनी डालते–डालते वह थक गया, परन्तु सुमन के हृदय में क्षण–भर के लिये भी रस का उद्रेक नहीं हुआ। आसक्ति के स्थान पर विरक्ति ही उन्नत होती गई। अन्त में वह थककर सिसकने लगी।

रसिक सौरभ का उत्साह भी ठण्डा हो गया। उसने एक ठण्डी साँस लेकर अपनी सूनी शैया पर दृष्टि डाली। उस पर बिछे हुए पुष्प किसी की प्रतीक्षा करते–करते जैसे थक गए थे, और थककर मुरझा चुके थे। सौरभ का हृदय भर आया। वह धीरे–धीरे चलकर पलंग पर बैठा, और अपने लटके हुए मस्तक पर हथेली का अवलम्ब देते–देते बोला–' उफ़ ! कोमलता के पीछे कितनी कठोरता छिपी हुई है !'

सौरभ न जाने, कब तक सोच-विचार के घात–प्रतिघात में पड़ा रहा। जब बाहर, उद्यान में आम की मंजरी पर कोयल बार-बार व्यथा के भार से कूकने लगी, तब कहीं उसकी तन्द्रा भंग हुई। उसने बाहर झांककर देखा। आकाश स्वच्छ हो गया था। रात-भर की अविराम यात्रा से चन्द्रमा थक चुका था। तारों की ज्योति मन्द हो गई थी और उषा पूर्व गमन के अञ्चल पर गुलाल छिड़क रही थी। ' अब प्रातःकाल होने में अधिक विलम्ब नहीं है' कहते हुए सौरभ ने तकिए के नीचे से अपनी वंशी निकाली और पलंग पर लेटते–लेटते नित्य के नियमानुसार तान छेड़ दी। कमरा एक बारगी गुँज उठा और धीरे–धीरे चारों ओर रस का सागर उमड़ने लगा।

यद्यपि सुमन बिसूरती–बिसूरती शान्त हो गई थी, पर उसके हृदय में

अब भी वही दावानल धधक रहा था और प्राण रह-रह कर वंशीवाले को पुकार रहे थे। वंशी की ध्वनि सुनते ही वह चौंक उठी। अरे! यह तो वही वंशी है। ठीक वही स्वर है। एक-एक तान में वही आकर्षण है। एक-एक लय में वही मादकता है। सुमन के कान अतृप्त भाव से वह ध्वनि सुनने लगे। पुलक के आवेग से वह विभोर हो गई और क्रमशः चेतना-हीन सी होने लगी। वायु का एक प्रबल झोंका आया और उसने सुमन का अञ्चल उड़ा दिया। पर, आत्म–विस्मृत सुमन को उसका भान तक न हुआ। उसकी दृष्टि सौरभ पर पड़ी। वह उन्मत्त हो गई और एकबारगी पुकार उठी–'उफ! कैसी अनन्त छबि!'

सुमन उसी दशा में उठी और धीरे–धीरे सौरभ की ओर बढ़ने लगी! सौरभ के सामने पहुँचते ही वह फिर उसी उन्मत्त स्वर में बोली–'चित्त–चोर छलिया! अब तक कहाँ छिपे थे? तुम्हीं तो हो मेरे वंशीवाले!'

दो फूल

(कहानी-संग्रह) (द्वितीय संस्करण)

लेखिका

श्रीमती सत्यवती जी मलिक

यह १९ कहानियों का संग्रह है। नारी हृदय का सार, मातृत्व की कसक और भावुकता की तूलिका से यह निर्मित हुई हैं।

कहानियां छोटी-छोटी किन्तु गहरा असर करनेवाली हैं। इन में जीवन का स्पंदन है और है ताज़गी भी। लेखनी में प्राण-संचारक शक्ति है। एक भी शब्द फ़ालतू नहीं है।

ये रचनायें किसी भी साहित्य का गौरव हो सकती हैं। अनूठी हैं और कलापूर्ण हैं। यह कभी पुरानी पड़नेवाली नहीं हैं, इनके जीवन में पतझड़ नहीं आयेगा।

इतनी स्वाभाविक कहानियां हिन्दी में कम ही लिखी गई हैं। अवश्य ही पढ़िये।

मूल्य है ३॥) रु.

झुरमुट

(कहानी-संग्रह)

शैली और प्रकार में नये सफल प्रयोग।

'**झुरमुट**' में आप पायेंगे जीवन का वह पहलू, जिससे आप की आखें अनजान हैं। समाज का लड़खड़ाता महल, जिस की बुनियादें खोखली हो चुकी हैं, और अनुभव की वह तीखी घूँट, जिसकी कड़-वाहट का स्वाद आपने नहीं चखा।

विभिन्नता की दृष्टि से एक लेखनी द्वारा प्रसूत यह पहला संग्रह है।

इस में केवल रस और रंगों की ही विभिन्नता नहीं वरन् भारत की विभिन्न संस्कृतियों का भी चित्रण है।

'**झुरमुट**' तो झुरमुट ही है-जहां प्रकृति का विलास होता है, जिस की छाया में केवल **मानव** देवता का निवास है।

इस में प्रेम की धूप-छाँह खेलती है, आँसूओं की बौछारें पड़ती हैं, मुसकान की चांदनी छिटकती है और आहों- कराहों की लूएँ भी चलती हैं। पढ़िये और **श्री नलिनजी** की लेखनी की दाद दीजिये।

मूल्य है ४॥) रु.

नालन्दा-प्रकाशन, पोष्ट बॉक्स १३५३, बम्बई १

हमारा समाज

लेखक—इस विषय के सुप्रसिद्ध मनीषी और सिद्धहस्त तथा अनुभवी विद्वान

श्री सन्तरामजी बी. ए. सम्पादक '**क्रान्ति**'

पुस्तक, लेखक के २६ वर्षों के अध्ययन, मनन और अनुभव का निचोड़ है।

इस में बताया गया है कि जात-पाँत कैसे बनी। आरम्भ में इसका क्या रूप था, इससे क्या-क्या हानियां हुईं, बुद्ध आदि महात्माओं ने इसे दूर करने का कैसा यत्न किया, स्मृतियों और शास्त्रों की क्या आज्ञा है, जिन हिन्दुओं का ९ वीं शताब्दी में भी काबुल तक में राज्य था उनको आज पंजाब से भी क्यों निकलना पड़ा, सच्चा सनातन धर्म क्या है? इत्यादि इत्यादि।

इस में बहुत सी ऐतिहासिक घटनायें और वैज्ञानिक खोजों को संग्रहीत किया गया है। इसे एक बार ध्यानपूर्वक पढ़ लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति **जातिभेद** से अवश्य ही घृणा करने लगेगा।

इस विनाशकारी भेद-भाव को समूल नष्ट करने की जितनी आवश्यकता इस समय है—उतनी पहिले कभी नहीं थी। **पाकिस्तान** और **हिंदुस्थान** का बँटवारा अवश्य ही हो गया है—पर इससे खतरा दूर नहीं हुआ। इस समय जो मुसलमान भारत में रह गये हैं—यदि उनको प्रेमपूर्वक अपने समाज में पचाने का यत्न न हुआ तो कालान्तर में उनका '**फिफ्थ् कालमिस्ट**' या **देशद्रोही** बनना अवश्यम्भावी है। तब बाहर से पाकिस्तान और भीतर से यह लोग भारत का नाकों दम करने लगेंगे। परन्तु जो हिन्दू दूसरे हिन्दू को भी अपने में नहीं पचा सकता, वह मुसलमान को कैसे पचा सकेगा इसलिये मुसलमानों और हिन्दूओं को मिलकर एक संघटित राष्ट्र बनाने के लिये जाति-भेद को शीघ्र से शीघ्र मिटा देना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है। जाति-भेद के रहते '**अछूतोद्धार**' और '**शुद्धि**' कभी भी सफल नहीं हो सकती हैं!

पुस्कत लगभग ३०० पृष्ठों की, सचित्र और सजिल्द है।

बढ़िया सफेद कागज़ पर, सुंदर बम्बईया टैप में छपी है। मूल्य है **छः रुपये** मात्र।

नालन्दा-प्रकाशन, धननूर बिल्डिंग, सर फ़ीरोज़शाह मेहता रोड,

फोर्ट-बम्बई १